वेदमीमांसा

और

दयानन्द सरस्वती

लेखक :—

डॉ० वेदप्रकाश उपाध्याय

एम्. ए. (हिन्दी) (अमृतसर), एम्. ए. (संस्कृत) (इलाहाबाद),
एल-एल. बी., डी. फिल., डी. लिट. (इलाहाबाद),
डिप्. इन जर्मन, सर्टि. इन. पर्सियन (पंजाब),
वेदाचार्य (पंजाब), दर्शनाचार्य, र्मशधास्त्राचार्य (वाराणसी),
प्राप्तस्वर्णपदक (पंजाब), प्राप्तस्वर्णपदक (वाराणसी)
रीडर एवम् अध्यक्ष—संस्कृत, पी०यू०ई०सी०, (Deptt. of Evening Studies), पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़-160014

प्रदीप-प्रकाशन

इलाहाबाद : कुरुक्षेत्र : चण्डीगढ़

1992





वेदमीमांसा

और

दयानन्द सरस्वती

लेखक :—

डॉ० वेदप्रकाश उपाध्याय

एम्. ए. (हिन्दी) (अमृतसर), एम्. ए. (संस्कृत) (इलाहाबाद),
एल-एल. बी., डी. फिल., डी. लिट. (इलाहाबाद),
डिप्. इन जर्मन, सर्टि. इन. पर्सियन (पंजाब),
वेदाचार्य (पंजाब), दर्शनाचार्य, धर्मशास्त्राचार्य (वाराणसी),
प्राप्तस्वर्णपदक (पंजाब), प्राप्तस्वर्णपदक (वाराणसी)
रीडर एवम् अध्यक्ष—संस्कृत, पी०यू०ई०सी०, (Deptt. of Evening Studies), पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़-160014

प्रदीप-प्रकाशन

इलाहाबाद : कुरुक्षेत्र : चण्डीगढ़

1991

प्रकाशक :

श्रीमती प्रतिमा देवी

प्रदीप प्रकाशन

ब्रह्मपुर, पत्रालय—नारा (सिराथू)

जि०— इलाहाबाद (उ०प्र०)

शाखा :

श्रीमती प्रतिमा देवी
प्रदीप प्रकाशन
गली नं० 7, शान्ति नगर
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

श्रीमती प्रतिमा देवी
प्रदीप प्रकाशन
डी—56, सेक्टर
14, चण्डीगढ़

मूल्य : —
पुस्तकालय संस्करण—50/-
सामान्य संस्करण—25/-

मुद्रक :

मधु प्रिंटर्ज

हिल रोड, अम्बाला छावनी। (हरियाणा)

प्रो० डा० भवानीलाल भारतीय
भू० पू० अध्यक्ष — दयानन्दशोधपीठ
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ 160014

दिनांक : ३०-६-९१

मैंने सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० वेदप्रकाश उपाध्याय के ग्रन्थ 'वेदमीमांसा और दयानन्द सरस्वती को ध्यानपूर्वक पढ़ा है। इसमें सुधी लेखक ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक स्वामी दयानन्द की वेदविषयक अवधारणों को सप्रमाण पुष्ट एवं व्याख्यात किया है। वेदसंज्ञा, वेदों की अपौरुषेयता वेदों की नित्यता तथा इसी प्रकार के अन्य प्रासंगिक प्रश्नों की सम्यक् मीमांसा करने के पश्चात् उन्होंने स्वामी दयानन्द के विचारों की पुष्टि की है। लघु आकार में होने पर भी यह पुस्तक स्वामी दयानन्द की वेदविषयक अवधारणाओं को जानने में अतीव उपयोगी है। प्रारम्भ के अध्याय में स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का विवेचन इस पुस्तक की अतिरिक्त उपलब्धि है। आशा है, सुधी पाठक इस ग्रन्थ का स्वागत करेंगे।

—भवानीलाल भारतीय



भूमिका

वैदिक साहित्य के गम्भीर महार्णव से रत्नान्वेषण का कार्य करने वाले कितने ही मनीषीजनों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार सफलता प्राप्त की है। बहुमुखी प्रतिभा के कारण दयानन्द सरस्वती ने जहां एक ओर समाजसुधार का कार्य करने में अपनी विलक्षण क्षमता का परिचय देते हुए वेदों को सामाजिक एवं धार्मिक आधार के रूप में मान्यता प्रदान की, वहीं वेदों के गूढ आशय को भी जनमानस तक पहुंचाने में अपने अद्‌भुत कौशल का परिचय दिया। तपस्या से पवित्र अन्तःकरण वाला व्यक्ति वेदार्थ को हृदयंगम कर सकता है, इस बात पर स्वामी जी का विश्वास रहा है। यद्यपि वेदार्थ की याज्ञिक प्रक्रिया, भाषा-वैज्ञानिक प्रक्रिया, ऐतिहासिक प्रक्रिया और आध्यात्मिक आदि प्रक्रियाएं उनसे पूर्व प्रचलित रही हैं, जिनके संकेत निरुक्त से भी प्राप्त होते हैं, किन्तु दयानन्द जी ने निर्वचनात्मक प्रक्रिया का अवलम्बन लेते हुए वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया को स्वीकार किया, जिसका सूत्रपात आत्मानन्द जी अपने वेदभाष्य में कर चुके थे।

पाश्चात्य विद्वान् वेदों को ग्रन्थ मानकर उनके रचयिता और रचनाकाल के विषय में अपनी तर्कबुद्धि का प्रयोग कर रहे थे, किन्तु दयानन्द सरस्वती ने मीमांसादर्शन के शास्त्रीय आधार पर वेदों की नित्यता स्वीकार करते हुए उन्हें कृति के रूप में नहीं माना और वेदों के कर्त्ता के रूप में मनुष्यों को स्वीकार नहीं किया। वेदों में जो ऋषि बताए गए हैं, वे मन्त्रकर्त्ता न होकर मन्त्रद्रष्टा हैं, जिन्होंने वेदमन्त्रों की रचना नहीं की, अपितु उन मन्त्रों का साक्षात्कार किया था।

दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद के रूप में केवल संहिताओं को स्वीकार किया जा सकता है, ब्राह्मणग्रन्थों को नहीं, जबकि आपस्तम्ब ने संहिता और ब्राह्मण दोनों को ही वेद शब्द के अन्तर्गत माना है।[1]

यद्यपि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का मूल वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है, किन्तु दयानन्द सरस्वती के अनुसार चारों वर्णों में समत्व का व्यवहार होना चाहिए। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष के भेद के आधार पर स्त्रियों को वेदाध्ययन से वञ्चित नहीं किया जा सकता।

---

1. वैदिक साहित्य: एक विवेचन—डा० वेदप्रकाश उपाध्याय, पृ० 2

वेदों में जिस करणीय कर्म का विधान है, वह धर्म है और जिसके करने का निषेध है, वह अधर्म है। दयानन्द सरस्वती ने जिन कर्मों के करने का विधान किया है, उनका आधार वेदों को ही माना है।

स्वामी जी के अनुसार नियोगप्रथा शास्त्रीय है और उसका उद्गम उन्होंने वेदों से माना है। नियोग विधवा और विधुर के मध्य होता है, यह महर्षि दयानन्द जी का अभिमत है।

पञ्च महायज्ञों की नित्यकर्त्तव्यता भी स्वामी दयानन्द जी को अभीष्ट है। वास्तव में ये महायज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए अवश्यकरणीय हैं।

वेदों के विषय में दयानन्द सरस्वती के विचारों के आधार पर इस ग्रन्थ में वेदमीमांसा प्रस्तुत की गई है तथा ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्वामी जी के विवादास्पद जीवन चरित के पक्षों पर भी गवेषणा करके उनके जीवन का प्रामाणिक परिचय दिया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन का प्रारम्भ गुरुकुल कुरुक्षेत्र के प्राचार्य डा० तुलसी राम आर्य, जिन्हें पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग से मेरे निर्देशन में ही पी-एच०डी० उपाधि प्राप्त करने का सम्मान प्राप्त हुआ है, के निवासस्थान पर हुआ और समापन होशियारपुरस्थ श्री जय प्रकाश शर्मा जी के आवास पर हुआ है, इसलिए ये दोनों स्थान मेरे लिए अविस्मरणीय है।

पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ के दयानन्द अनुसन्धान पीठ के पूर्वाध्यक्ष डा० भवानी लाल भारतीय मेरे लिए श्रद्धा के पात्र है, जिन्होंने सदैव मुझे ऐसी कृति के प्रणयन के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया है।

कुरुक्षत्र विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति एवं पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के वर्त्तमान डी०यू०आई० प्रो० डा०एस०आर०के० चोपड़ा, जिन्हें इंग्लैंड से जवाहर लाल नेहरू एवार्ड प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, मेरे लिए धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने मुझे अनुसन्धान विषयक सहयोग प्रदान किया।

लेखन के लिए प्रेरणा देने वाले सुहृद्जनों में पंजाब वि० वि० के भू०पू० दयानन्द प्रोफेसर डा० भवानीलाल भारतीय, रसायन शास्त्र विभाग के प्रोफेसर डा० राम प्रकाश एम०एल०ए० (हरियाणा), श्री सुनील मोहन गुप्त अम्बाला, गुरुकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के उपकुलपति प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार,

दिल्ली वि० वि० के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर डा० वाचस्पति उपाध्याय तथा कुरुक्षेत्र वि० वि० के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० डा० मानसिंह आदि प्रमुख हैं, जिसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

अपने गुरुवर्य श्री 1008 स्वामी रामानन्द जी सरस्वती परमहंस, जयतारा आश्रम, लौघना (कुमियावां) जनपद इलाहाबाद तथा विश्वशान्ति इण्टरनेशनल के आचार्य स्वामी जी का तो मैं ऋणी ही हूं, जिनका आशीर्वाद सदैव मेरे ऊपर रहा है।

अपने विद्यागुरु सर्वतन्त्रस्वतन्त्र प्रो० डा० आद्याप्रसाद जी मिश्र का तो मैं आजीवन आभारी रहूंगा, जिनका शुभाशंसन एवम् आशीर्वाद मेरे लिए एक वर के रूप में सिद्ध हुआ।

अपने पूज्यपिता पं० रामसजीवन उपाध्याय और पूज्या माता श्रीमती सुमित्रादेवी के चरणों में अपने श्रद्धासुमन समर्पित करता हू, जिनका अखण्ड स्नेहपूर्ण आर्शीवचन सदैव मार्गदर्शक रहता है तथा पत्नी श्रीमती प्रतिमादेवी को भी मेरा धन्यवाद है, जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रकाशित करने में अभिरुचि ली।

इस ग्रन्थ के मुद्रक मधुप्रिंटर्स हिल रोड़, अम्बाला कैण्ट के व्यवस्थापक श्री रामस्वरूप गुप्त को मेरा बहुत-२ धन्यवाद है, जिन्होंने अमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ को अविलम्ब मुद्रित कर दिया।

गुरुपूर्णिमा २०४८ —वेदप्रकाश उपाध्याय

———

ग्रन्थीय-संक्षेप-सूची

अथर्व०	=अथर्ववेद संहिता
आपस्तम्ब प० सू०	=आपस्तम्बपरिभाषासूत्र
ऋ०	=ऋग्वेद
ऋग्वेदादि०	=ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका
कठ०	=कठोपनिषद्
कठोपनि०	=कठोपनिषद्
छान्दोग्य०	=छान्दोग्योपनिषद्
गी०	=गीता
तै०उ०	=तैत्तिरीय उपनिषद्
तैत्ति० आ०	=तैत्तिरीय आरण्यक
नि०	=निरुक्त
न्याय सू०	=न्याय सूत्र
ब्रसू०	=ब्रह्मसूत्र
मनु०	=मनुस्मृति
महानिर्वाण०	=महानिर्वाण तन्त्र
मीसू०	=मीमांसा सूत्र
मुण्डक०	=मुण्डकोपनिषद्
यजु०	=यजुर्वेद
यजु० सं०	=यजुर्वेद संहिता
याज्ञ०	=याज्ञवल्क्य स्मृति
शतपथ०	=शतपथ ब्राह्मण
शब्रा०	=शतपथ ब्राह्मण
शांभा०	=शाङ्करभाष्य
वाच०	=वाचस्पत्यम्
हलायुध०	=हलायुधकोष

————

विषयसूची

१

स्वामी दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व

स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्राह्मणवंश के तिवारी कुल में उत्पन्न हुए थे। वे उत्तरी-भारत में उत्पन्न एवं सिद्धपुर निवासी एक कच्छप्रवासी ब्राह्मण की वंश परम्परा में थे। उनके पूर्वज कच्छवासी औदीच्य ब्राह्मण केवंशजों की एक शाखा महाराजा जाम रावल के साथ 1602 विक्रम में सौराष्ट्र आई जो वहीं बस गई। तिवारी वंश की यह शाखा दो उपशाखाओं में विभक्त हो गई, जिनें में से एक मोटा बडाल में तथा दूसरी टंकारा में रहने लगी। डॉ० भवानीलाल भारतीय ने यह सिद्ध किया है कि टंकारा की शाखा में हरिभाई त्रिवेदी सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य में विद्यमान थे, जिनके वंश में प्रादुर्भूत मेघ जी त्रिवेदी के दो पुत्रों—विश्राम जी और डोसा जी में से डोसा जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा कुंवर जी और लालजी नामक दो पुत्रों के पिता थे, जिनमें से लाल जी दयानन्द सरस्वती के पितामह थे।[1] लाल जी के दो पुत्र थे, जो भाव जी तथा करसन जी नाम से प्रसिद्ध थे। दयानन्द जी के पिता करसन जी ही थे।

1. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती—पृ० ३

स्वामी दयानन्द जी के जन्म स्थान के विषय में पर्याप्त मतभेद है। लेखराम आर्य-मुसाफिर ने दयानन्द सरस्वती के जन्म स्थान के रूप में मोरवी को स्वीकार किया है।[1] उपर्युक्त मन्तव्य के आधार के रूप में कुबेर जी कानजी के कथन को प्रमाण माना गया है, जो मोरवी राज्य की ओर से टंकारा में एक कर्मचारी के रूप नियुक्त थे और जिन्होंने पं० लेखराम से 1900 विक्रम में घर से भागने वाले अपने मूलशंकर नामक एक चाचा के विषय में जानकारी दी थी। कुबेरजी कानजी के मोरवी-निवासी होने के कारण पं० लेखराम ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि दयानन्द सरस्वती का जन्म स्थान मोरवी था। पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने अपनी गवेषणा में कुबेरजी कानजी के कथन को अविश्वसनीय माना है, क्योंकि कुबेरजी कानजी यजुर्वेदीय ब्राह्मण थे, जबकि दयानन्द सरस्वती सामवेदीय ब्राह्मण थे।[2]

दयानन्द सरस्वती ने अपने जन्म स्थान के विषय में यह स्पष्ट कर दिया है कि संवत् 1881 के वर्ष में मेरा जन्म दक्षिण गुजरात प्रान्त, देश काठियावाड़ मजोकठा देश मोर्वीका राज्य औदीच्य ब्राह्मण के घर में हुआ था।[3] इससे यह स्पष्ट है कि दयानन्द सरस्वती का जन्म मोरवी राज्य के किसी स्थान विशेष में हुआ था, न कि मुख्य मोरवी नगर में। उपर्युक्त मत के खण्डन में दयानन्द सरस्वती का पूना का प्रवचन उद्धृत किया जा सकता है, जिसमें स्वामी जी ने यह प्रतिपादित किया था कि गुजरात देश में ध्रांगध्रा की सीमा पर बसे मोरवी नगर में उनका जन्म हुआ था।[4] वास्तव में मोरवी राज्य ध्रांगध्रा की सीमा से मिलता है। दयानन्द के जन्म से पूर्व बांकानेर और ध्रांगध्रा राज्य एक ही झालावंश के शासकों के राज्य थे। ध्रांगध्रा राजकुल के एक वंशज द्वारा ही बांकानेर राज्य स्थापित किया गया था। अतः स्वामी जी के कथन में कुछ भी त्रुटि नहीं है कि उनका जन्म ध्रांगध्रा राज्य की सीमा पर स्थित राज्य में हुआ था। भारत की स्वतन्त्रता के बाद सौराष्ट्र के ये सभी राज्य गुजरात राज्य में अन्तर्निहित हो गये।

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र—लेखराम आर्य मुसाफिर, अनु० रघुनन्दनसिंह निर्मल—पृ० २२
2. नवजागरण के पुरोधाः दयानन्द सरस्वती—पृ० ५
3. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा—पृ० १
4. पूना प्रवचन—पृ० 111

पं० घासीराम ने यह प्रतिपादित किया है कि दयानन्द सरस्वती का जन्म बांकानेर के सीमान्त स्थित किसी स्थान पर हुआ था।[1]

जिस स्थान पर बांकानेर राज्य की सीमा मौरवी राज्य से मिलती है, वहां पर टंकारा के अतिरिक्त कोई अन्य बड़ा ग्राम नहीं है।[2]

पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने दयानन्द के जन्मस्थान के विषय से सम्बन्धित अपना निर्णय टंकारा के पक्ष में दिया है।[3] बाद में दयानन्द जी के जीवन पर प्रकाश डालने वाले लेखकों ने मुखोपाध्याय जी के मत का ही सामान्यतया अनुसरण किया है।

दयानन्द सरस्वती के जन्म स्थान की भांति उनके पिता के वास्तविक नाम के विषय में भी पर्याप्त मतभेद रहा है। दयानन्द सरस्वती से मिलती जुलती आकृति वाले गोविन्दानन्द सरस्वती, जिन्हें लोग दयानन्द जी का भ्राता समझते थे, ने स्वामी दयानन्द जी के पिता का नाम अम्बाशंकर बताया, जो औदीच्य ब्राह्मण थे।[4] इसी आधार पर पं० लेखराम ने दयानन्द जी को अम्बाशंकर के पुत्र के रूप में स्वीकार किया, जिसके आधार पर गत शताब्दी के अन्त तथा वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों तक दयानन्द जी से सम्बन्धित सभी जीवन चरित्रों में उनके पिता के रूप में अम्बाशंकर को ही प्रतिष्ठा मिली। पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा जब टंकारा तथा उसके समीपवर्ती अन्य स्थानों में गवेषणा के दौरान स्वामी दयानन्द जी के पिता के नाम के विषय में अनुसन्धान किया गया, तो उनके पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवाड़ी ज्ञात हुआ।[5] पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने इस धारणा का भी खण्डन किया है, कि स्वामी दयानन्द जी के गोविन्दानन्द सरस्वती नामक

---

1. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित—पं० घासीराम, भाग 2, परिशिष्ट-1 में उद्धृत
2. महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय—श्री कृष्ण शर्मा, राजकोट, पृ० ६
3. नवजागरण के पुरोधाः दयानन्द सरस्वती,—डॉ० भवानीलाल भारतीय —पृ० ६
4. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र—लेखराम आर्यमुसफिर, पृ० 20
5. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती—डॉ० भवानी लाल भारतीय, पृ० ७

कोई ऐसा भाई भी था, जिसने संन्यास ले लिया था और स्वामी जी के पिता का नाम अम्बाशंकर बताया था। वास्तव में दयानन्द जी के पिता का नाम करसन जी लाल जी तिवारी था, जिसकी पुष्टि निम्न प्रकार से होती है। स्वामी जी ने अपने पितृगृह के विषय में यह स्पष्ट किया था कि घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी, किन्तु जिमीदारी और लेनदेन से जीविका के प्रबन्ध करके वे सब काम चलाते थे।[1] करसन लाल जी तिबारी का काम लेनदेन का था, जिसकी पुष्टि उनकी पुत्री प्रेमबाई के वंशज पोपट लाल रावल के पास से प्राप्त इस प्राचीन बहीखाते से हुई, जिसमें यह उल्लेख है कि उन्होंने किस ब्याज दर पर किस व्यक्ति को कितना रुपया दे रखा है।[2]

स्वामी जी के अनुसार उनके पिता घोर शैव थे। करसन जी लाल जी तिवारी ने टंकारा ग्राम के बाहर एक शिवालय का निर्माण कराया था, जिसे आजकल कुबेरनाथ जी का शिवालय कहते हैं।

स्वामी दयानन्द जी की जन्म तिथि क्या थी इस विषय में निश्चित नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी ने केवल अपने जन्म संवत्सर का निर्देश दिया है, जो संवत् 1881 विक्रम है। पं० लेखराम के अनुसार स्वामी दयानन्द जी 1881 विक्रम की समाप्ति पर पैदा हुए और उनका जन्म मास माघ या फाल्गुन था।[3] अखिलानन्द शर्मा के अनुसार स्वामी दयानन्द जी की जन्म तिथि भाद्रपद शुक्ला नवमी तिथि बृहस्पतिवार 1881 विक्रम संवत्सर है।[4] यद्यपि शर्मा जी के द्वारा निर्धारित तिथि का आधार ज्ञात नहीं है, किन्तु उनकी तिथि को अन्य प्रमाणों से भी समर्थन मिलता है। 27 मार्च 1927 ई० को स्व० मामराजसिंह के द्वारा प्रस्तुत पं० केशवराम विष्णुराम पण्ड्या लिखित स्वामी दयानन्द की जीवनी की एक पाण्डुलिपि में स्वामी जी की जन्मतिथि भाद्रपद शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार स्वीकार की गई है।

---

1. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती, पृ० 7
2. दयानन्दजन्मस्थाननिर्णय—विजयशंकर मूलशंकर, पृ० 84
3. महर्षि दयानन्द जी का जीवन चरित्र—लेखराम आर्य मुसाफिर, पृ० 27
4. मासि भाद्रपदे पक्षे सितवारे बृहस्पतेः।
   नवम्यां मध्यमायाते भास्करेऽपि विहायसः॥
   —दयानन्ददिग्विजय 2.37

स्व० पं० श्री कृष्ण शर्मा आर्यमिश्नरी ने अपने ग्रन्थ 'महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय' में 1881 वि० के भाद्रपदशुक्ला नवमी को स्वामी जी की जन्म तिथि स्वीकार किया है, किन्तु उनकी गणना के अनुसार उक्त तिथि को गुरुवार न होकर बुधवार का दिन था। श्रीकृष्ण शर्मा के अनुसार इस जन्मतिथि का आधार दयानन्द सरस्वती जी की जन्मकुण्डली है। इस कुण्डली के अनुसार दयानन्द जी का जन्म प्रातः 3 बज कर 30 मिनट पर मूलनक्षत्र, धनुराशि में हुआ था।[1] अपने मन्तव्य की पुष्टि में पं० श्रीकृष्ण शर्मा ने यह भी प्रतिपादित किया कि 1881 वि० की भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को मोरवीनगर के सेठ सुन्दर जी शिवजी की ओर से टंकारा महाल के राजस्व अधिकारी के यहां पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में एक सौ सोलह रुपए की सामग्री सौगात रूप में प्रेषित की गई। यह भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी तिथि स्वामी दयानन्द जी के जन्म का छठा दिन थी, जिसे हिन्दू लोग छठी के रूप में मनाया करते हैं।

दीवान बहादुर हरविलास सारडा के अनुसार स्वामी जी की जन्म तिथि सवत् 1881 की आश्विन कृष्णा सप्तमी दिन बुधवार है, जो 15 सितम्बर 1824 ई० को पड़ती है। पं० भगवद्दत्त को भी यही तिथि मेरठ निवासी श्री जैसीराम जी से ज्ञात हुई थी। श्री इन्द्रदेव के अनुसार स्वामी जी की जन्म तिथि फल्गुन कृष्णपक्ष, द्वितीया तिथि संवत् 1881 है, जो 19 फरवरी 1825 ई० को पड़ती है।[2] उन्होंने स्वामी जी के जन्म नक्षत्र के रूप में पूर्वाभाद्रपद् को मान्यता प्रदान की है। ऐसी ही मान्यता कोटा निवासी स्व० भीमसेन शास्त्री ने भी स्थापित की है। दयानन्द सरस्वती के जीवन चरित्र में शैशव सम्बन्धी घटनाओं के पर्यवेक्षण के बाद उन्होंने यह निश्चय किया कि स्वामी जी की जन्म तिथि फाल्गुन कृष्णा दशमी शनिवार, मूलनक्षत्र है, जो 12 फरवरी 1825 ई० में पड़ती है।

पं० भीमसेन शास्त्री द्वारा निश्चित की गई, स्वामी जी की जन्मतिथि को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा धर्मार्यसभा ने 29

---

1. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती—डॉ० भवानी लाल भारतीय; पृ० 9.
2. ऋषि दयानन्द की जन्म तिथि—इन्द्रदेव, अखिल भारतीय आर्यसभा पीलीभीत द्वारा प्रकाशित, 1965 ई०।

अप्रैल 1956 ई० की बैठक में स्वीकृत कर लिया था तथा 1 अप्रैल 1967 ई० की बैठक में भी अन्तरंग सभा ने उक्त तिथि को मान्यता प्रदान की है ।[1] पं० अखिलानन्द शर्मा ने स्वामी जी को जन्मतिथि भाद्रपदशुक्ल पक्ष नवमी के दिन मानी है, जिसका उल्लेख पं० केशव राम पण्ड्यालिखित स्वामी जी की जीवनी में भी हुआ है। स्वामी जी के समकालीन पण्ड्या जी को उक्त तिथि स्वामी जी से ही ज्ञात हुई होगी तथा पं० अखिलानन्द जी के पिता पं० टीका राम जी को उक्त तिथि स्वामी जी ने स्वयं ही बताई होगी। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भाद्रपद शुक्ला नवमी, गुरुवार 1881 विक्रम को स्वामी जी की जन्म तिथि मानना अधिक उपयुक्त है।

दयानन्द सरस्वती का प्रारम्भिक नाम मूल शंकर था। पं० लेखराम के अनुसार स्वामी जी का मूल नाम मूल शंकर था। 1876 में दिल्ली में सम्पन्न होने वाले शाही दरबार में काठियावाड़ से पधारने वाले कुछ रईस व्यक्तियों के द्वारा स्वामी जी को मूल शंकर नाम से संबोधित किया गया था, जिन्हें स्वामी जी ने रोक दिया था ।[2] पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने भी गवेषणा के उपरान्त स्वामी जी का आद्य नाम मूल जी अथवा मूलशंकर स्वीकार किया था। स्वामी जी का एक अन्य नाम दयाराम भी था, जैसाकि प्राण लाल विश्वनाथ शुक्ल ने भी माना है ।[3] ऋषि दयानन्द जी का मूलनाम मूलजी या मूलशंकर था, यह असन्दिग्ध रूप से मान्य है ।[4]

स्वामी जी की माता के विषय मे अधिक प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है । पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने यह स्पष्ट कहा है कि वे मूल जी की जननी के विषय में कुछ भी न जानने के कारण उसकी प्रकृति का चित्र खींचने में असमर्थ हैं ।[5] श्रीकृष्ण शर्मा के अनुसार दयानन्द की माता का नाम

---

1. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती, पादटिप्पणी, पृ० 19.
2. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित—लेखराम आर्य मुसाफिर पृ० 20
3. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती, पादटिप्पणी, पृ० 20
4. दयानन्दजन्म स्थान निर्णय, —विजयशंकर मूलशंकर, पृ० 93
5. महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित, भाग—1, पृ० 45

अमृतबेन या अमूबा है ।[1] स्वामी स्वतन्त्रानन्द ने उनकी माता का नाम यशोदा बताया है ।[2] कविरत्न मेघाव्रताचार्य ने दयानन्ददिग्विजय में स्वामी जी की माता का नाम रुक्मिणी देवी लिखा है ।[3] यह नाम काल्पनिक है। द्वापर के कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी के नाम की तरह सौराष्ट्र के करसन जी (कृष्ण) की पत्नी का नाम भी रुक्मिणी होना चाहिए, ऐसी कल्पना कविरत्न मेघाव्रताचार्य की ही हो सकती है । दयानन्द जी की माता का नाम अमृतबेन या अमूबा था, यही मत उपयुक्त है, जैसाकि श्रीकृष्ण शर्मा ने प्रतिपादित किया है । अमृतबेन के पिता भुज के एक पुजारी थे, जिनका नाम भीमजी था, जो बाद में मोरवी शहर में रहने लगे थे । स्वामी जी के माता के नाम की पुष्टि श्री कृष्ण शर्मा को स्वामी जी के बाल्यकालीन मित्र इब्राहीम तथा उनकी बहिन प्रेमबा के प्रपौत्र पोपट रावल के साक्ष्य से हुई थी ।[4]

मूल जी को पांचवें वर्ष की आयु में 1886 विक्रम सं० में देवनागरी अक्षर पढ़ाने का अभ्यास कराया गया । 1889 विक्रम संवत् में आठवें वर्ष उनका यज्ञोपवीत कराकर गायत्री संध्या आदि की शिक्षा देकर उन्हें यजुर्वेद की संहिता का अभ्यास कराया गया तथा रुद्राध्याय की शिक्षा दी गई । उनका जन्म शैव कुल में हुआ था । 14 वर्ष की अवस्था के प्रारंभिक काल तक उन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद और छोटे 2 व्याकरण के ग्रन्थ पूर्ण कर लिए थे ।[5]

शिवरात्रि की एक घटना ने मूल जी के जीवन में परिवर्तन कर दिया । दयानन्द जी के पिता ने उन्हें शिवरात्रि का व्रत रखवा दिया । प्रथम प्रहर की पूजा के बाद दूसरे प्रहर की पूजा समाप्त करके जब पुजारी लोग बाहर जाकर सो गए, तब भी स्वामी जी नहीं सोए, क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि सोने से व्रत का फल नहीं प्राप्त होता है । रात्रि को चूहों को महादेव के ऊपर घूमते फिरते देखकर स्वामी जी ने अपने पिता को जगाकर उनसे जब इस प्रसङ्ग में महादेव जी के महादेवत्व के विषय में शंका की, तो उनका समाधान न हुआ । स्वामी जी बुभुक्षा से पीड़ित थे, अतः उन्होंने व्रत पूर्ण होने से पूर्व ही उसे

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती का परिचय, पृ० 18
2. राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन—जयचन्द्रविद्यालंकार पृ० 48
3. दयानन्ददिग्विजय 3.41
4. नवजागरण के पुरोधाः दयानन्द सरस्वती, पृ० 14
5. महर्षि दयानन्द जी की आत्मकथा, पृ० 10

तोड़कर भोजन कर लिया, जिससे उनके पिता जी रुष्ट हो गए।[1]

जब मूल जी 19 वर्ष के हुए, तब उनसे अत्यन्त प्रेम करने वाले उनके विद्वान् चाचा की मृत्यु हो गई, जिससे उन्हें अत्यन्त वैराग्य का अनुभव हुआ। 21 वर्ष की आयु में जब मूलशंकर के विवाह की तैयारी की जाने लगी, तब उन्होंने अपने विवाह को एक वर्ष के लिए स्थगित करा दिया। मूल शंकर ने व्याकरण, ज्योतिष और आयुर्वेद पढ़ने के लिए काशी जाने की अपनी इच्छा जब प्रकट की, तो उनकी मां ने साफ अस्वीकार कर दिया और उनके विवाह के प्रति अपनी इच्छा प्रकट की। तब मूलशंकर वहां से 3 कोस दूर एक ग्राम में एक अच्छे पण्डित से अध्ययन करने लगे। इक्कीसवां वर्ष पूर्ण होते ही जब उन्होंने अपने विवाह की अवश्यंभाविता का अनुभव किया, तब 1903 विक्रम सं० में उन्होंने घर छोड़ दिया।[2]

12 मार्च 1867 ई० को महर्षि दयानन्द कुम्भ मेले के अवसर पर हरिद्वार पहुंचे और वहां अपने निवास स्थान पर 'पाखण्ड खण्डन पताका' गाड़ दी। प्रचलित आडम्बरों का खण्डन करने वाले तथा प्रकाण्ड पण्डितों और शास्त्रज्ञों को चुनौती देने वाले स्वामी दयानन्द के विरुद्ध सभी लोग एकत्र हो गए।

1875 ई० में बम्बई में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक संस्था की स्थापना की, जिसका नाम आर्यसमाज है।

स्वामी दयानन्द जी की मृत्यु के कारण के विषय में पर्याप्त विवाद है। प्रो० बी० के० सिंह द्वारा "क्या स्वामी दयानन्द जी को विष दिया गया?" विषयक एक अंग्रेजी लेख में यह प्रतिपादित किया गया, कि स्वामी दयानन्द जी स्वाभाविक मृत्यु से दिवंगत हुए थे, न कि उन्हें विष दिया गया था।[3] स्वामी दयानन्द की मृत्यु से सम्बन्धित एक लेख में जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने यह सिद्ध किया कि स्वामी जी की मृत्यु शत्रुओं के द्वारा उन्हें दिए गए विष के कारण हुई।[4] महामहोपाध्याय डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार जब महर्षि उदयपुर से शाहपुरा और वहां से जोधपुर गए, तो वहां प्राचीन

1. नवजागरण के पुरोधा : दयानन्द सरस्वती, पृ० 14
2. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा, पृ० 12
3. Was Swami Dayanand poisoned—Singh, Prof. B.K., published in Illustrated weekly, 29 October, 1972.
4. Biographical Essays—F. Maxmuller PP. 167-180.

वदिक धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने अन्य प्रचलित धर्मों का खण्डन किया, जिससे उनके अनेक शत्रु हो गए, जिससे कुछ दुष्टों ने चिढ़कर उनके आहार में विष मिला दिया, जिससे कई दिन पीड़ित रहकर कार्तिक वदी अमावास्या विक्रमसंवत् 1940 अर्थात् 30 अक्तूबर, 1883 ई० को अजमेर में वे दिवंगत हो गए।[1] हरविलास सारड़ा ने मुन्शी देवीप्रसाद मुंसिफ की सम्मति उद्धृत करते हुए कहा है कि नन्हीं भगतन, जो महाराजा जसवन्त सिंह की प्रेयसी थी, के द्वारा स्वामी जी के रसोइये को एक माली के माध्यम से उत्कोच देकर विष देने के लिये प्रेरित किया गया था।[2] आर्य समाज के इतिहासकार पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने स्वामी जी की मृत्यु विष से ही मानी है।[3] स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी रावराजा तेजसिंह को लिखे गए अपने पत्र में स्वामी दयानन्द जी की जीवनलीला समाप्त करने के लिए दिए जाने वाले विष से अपनी जानकारी प्रकट की है।[4] स्वामी दयानन्द जी के जीवन चरितों एवं तत्कालीन परिस्थितियों का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है, कि स्वामी जी को विष देने का काम उनके शाहपुरा निवासी धौड़ मिश्र नामक रसोइये ने 29 सितम्बर की रात्रि को किया था। इस विषय पर पर्याप्त गवेषणा करके डॉ० भवानीलाल भारतीय ने भी यही मन्तव्य उपस्थित किया है।[5]

स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थ निम्न हैं—

---

1. महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह, दयानन्द कोमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० 370
2. Life of Swami Dayanand Saraswati—Harvilas Sarada, 1st Edition 1946, P. 327
3. आर्यसमाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 324 (सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली द्वारा 2013 विक्रम में प्रकाशित।)
4. रावराजा तेजसिंह को 2 मार्च 1925 को लिखा गया श्रद्धानन्द का पत्र जो तेजसिंह के पौत्र रावराजा वीरभद्रसिंह 8 सांघी कालोनी, जोधपुर पास सुरक्षित है।
5. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती, पृ० 531

1. अद्वैतमतखण्डन, लाइट प्रेस बनारस; 1870 ई०
2. अष्टाध्यायीभाष्य, वैदिकयन्त्रालय अजमेर, 1927 ई०
3. आर्याभिविनय, आर्यमण्डल प्रेस बम्बई, 1876 ई०
4. आर्योद्देशरत्नमाला, चश्म ए नूर प्रेस, अमृतसर 1877 ई०
5. ऋग्वेदभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1877 ई०
   (7.62.2 तक) वैदिक यन्त्रालय, काशी 1899 ई०
6. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, लाजरस प्रेस, बनारस 1934, 1935 वि.स.
7. काशी शास्त्रार्थ, वैदिक यन्त्रालय, काशी 1880 ई०
8. गोकरुणानिधि ,, ,, ,,
9. गोतम अहल्या की कथा ,, ,, ,,
10. चतुर्वेद विषय सूची, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर 1971 ई०
11. जालन्धर शास्त्रार्थ, पंजाबी प्रेस, लाहौर 1877 ई०
12. पञ्चमहायज्ञ विधि:, लाजरस प्रेस, बम्बई 1877 ई०
13. प्रतिमापूजनविचार, लाइट प्रेस, बनारस 1873 ई०
14. भागवतखण्डन, ज्वालाप्रकाश प्रेस; आगरा 1866 ई०
    (पाखण्डखण्डन)
15. भ्रमोच्छेदन, वैदिकयन्त्रालय, काशी 1880 ई०
16. भ्रान्तिनिवारण, आर्यभूषण प्रेस, शाहजहांपुर 1880 ई०
17. यजुर्वेदभाष्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1878 ई०
18. वेदभाष्यम्, लाजरस प्रेस, बनारस 1876 ई०
19. वेदविरुद्धमतखण्डन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1875 ई०
20. वेदाङ्गप्रकाश (14 भाग), वैदिक यन्त्रालय, काशी 1879 से 1883 ई० तक
21. वेदान्तिध्वान्तनिवारण, ओरिएण्टल प्रेस बम्बई 1876 ई०
22. व्यवहारभानु, वैदिक यन्त्रालय, काशी 1879 ई०
23. शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1875 ई०
24. संध्या, प्रकाश प्रेस, आगरा 1863 ई०

25. संध्योपासनादि पञ्चमहायज्ञविधिः, आर्य प्रेस बम्बई, 1931 विक्रम
26. संस्कारविधिः, एशियाटिक प्रेस, बम्बई 1977 ई०
27. संस्कृतवाक्यप्रबोध, वैदिक यन्त्रालय, काशी 1879 ई०
28. सत्यधर्म विचार, वैदिक यन्त्रालय, काशी 1880 ई०
29. सत्यार्थप्रकाश, स्टार प्रेस, बनारस 1875 ई०
30. सत्यासत्यविवेक (उर्दू), आर्य भूषण प्रेस, शाहजहांपुर 1879 ई०

२

वेदसंज्ञा

वेदसंज्ञा के विषय में भारतीय मनीषियों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ आचार्यों के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद नाम से अभिहित हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द जी सरस्वती केवल मन्त्रों को ही वेद मानते हैं। आपस्तम्ब परिभाषा-सूत्र में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद नाम से व्यवहृत किया गया है। कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की समान उपलब्धि होने के कारण मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को ही वेद के रूप में समान रूप से स्वीकार किया जाता है; किन्तु स्वामी दयानन्द जी ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की समान रूप से वेद संज्ञा स्वीकार नहीं की।

आपस्तम्ब का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से था अत: उनकी वेद विषयक मान्यता कृष्ण यजुर्वेद की दृष्टि से ही समझनी चाहिए। आपस्तम्ब ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों को वेद इसीलिए माना है, क्योंकि कृष्णयजुर्वेद की सभी शाखाओं की संहिताएं मन्त्र और ब्राह्मण से युक्त हैं। शुक्ल यजुर्वेद की संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों एकत्र नहीं हैं। इनमें केवल मन्त्र ही मिलते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ संहिता ग्रन्थों से अलग हैं। यदि शुक्ल यजुर्वेद की दृष्टि से विचार किया जाय, तो केवल मन्त्र भाग ही वेद के रूप में स्वीकार किया जाएगा ब्राह्मण भाग नहीं, क्योंकि ब्राह्मण भाग यजुर्वेदीय संहिताओं के अन्तर्गत नहीं है।

मन्त्र और ब्राह्मण को वेद मानने से सम्बन्धित सूत्र आपस्तम्बपरिभाषासूत्र में मिलता है ।[1]

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थ वेद नहीं हो सकते, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के पर्याय इतिहास, पुराण, कल्प गाथा और नाराशंसी भी है। ब्राह्मण ग्रंथों को ईश्वर ने नहीं बनाया, अपितु महर्षियों ने ब्राह्मणग्रंथों के रूप में वेदों का व्याख्यान किया है। शरीरधारी प्राणियों द्वारा रचे गए ब्राह्मण ग्रंथ वेदसंज्ञा से विभूषित नहीं किए जा सकते ।

ब्राह्मण भाग के अंतर्गत लौकिक इतिहास के दर्शन होते हैं, जिसमें मनुष्यों के नामों का उल्लेख भी मिलता है। ऐसा इतिहास मन्त्र भाग में नहीं है। यदि यह आक्षेप किया जाए कि यजुर्वेद संहिता में जमदग्नि और कश्यप के नाम मिलते हैं[2] अतः 'मन्त्र में भी इतिहास होने के कारण मन्त्र और ब्राह्मण की समानता है, तो यह ठीक नही, क्योंकि जमदग्नि और कश्यप ये नाम किसी शरीरधारी प्राणी के नहीं हैं। शतपथ ब्राह्मण मे चक्षु को जमदग्नि तथा प्राण को कश्यप कहा गया है।[3] यहां पर प्राण से अन्तःकरण तथा आंख से सभी इन्द्रियों का ग्रहण होता है।

स्वामी दयानन्द जी के अनुसार ब्राह्मण ग्रंथों का ही नाम इतिहास और पुराण आदि है, ब्रह्मवैवर्त्त और श्रीमद्भागवत आदि का नहीं। चारों वेदों के ज्ञाता ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण महर्षियों के द्वारा कहे गए वेदव्याख्यान 'ब्राह्मण' कहे जाते हैं।[4] शतपथ ब्राह्मण मे ब्राह्मण और ब्रह्म को पर्याय माना गया है।[5]

संहिताओं की तरह ईश्वरोक्त न होने के कारण ब्राह्मण ग्रंथों का महत्त्व वेदों के समान नहीं हो सकता। ब्राह्मण ग्रंथों की प्रामाणिकता तो वेदों के अनुकूल होने के कारण ही है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि स्वामी दयानन्द जी के अनुसार वेद के रूप में केवल मन्त्रभाग ही प्रतिष्ठित है, ब्राह्मण भाग नहीं।

---

1. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब प० सू०
1. त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
   यद्देवेषु त्र्यायुष तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥- यजु० 3.62
2. चक्षुर्वै जमदग्निऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यति ।—शब्रा० 8.1
   कश्यपोवै कूर्मः प्राणोवै कूर्मः । शब्रा. 7.5
3. चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणै र्महर्षिभिः प्रोक्तानि
   यानि वेदव्याख्यानानि तानि ब्राह्मणानि ।
   —ऋग्वेदादि० पृ० 99
4. ब्रह्मवै ब्राह्मणः ।—शब्रा० 13.1

३

वेदोत्पत्ति

वेदों की उत्पत्ति के विषय में पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जहां पाश्चात्यविचारधारा वेदों को ग्रन्थ एवं कार्य मानकर उसके रचयिता या कर्त्ता के अस्तित्व का प्रतिपादन करती है, वहीं प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार वेद किसी की कृति न होकर अपौरुषेय हैं। वेदों का उद्गम परमेश्वर से माना जाता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चारों वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से ही मानी है। उपर्युक्त विचारधारा की पुष्टि वेदों के अन्तरङ्ग प्रमाण से भी होती है। यजुर्वेद में कहा गया है, कि कभी नष्ट न होने वाले सत्, अज्ञानलेश से रहित ज्ञानस्वरूप चित्, सब को सुख देने वाले, सुख-स्वरूप, आनन्द आदि लक्षणों से युक्त, उपासनीय, सामर्थ्ययुक्त और सर्वत्र परिपूर्ण हो रहे परब्रह्म से ऋग्वेद, युजर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए।[1]

1. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
—यजु० 31.7

अथर्ववेद में भी चारों वेदों की उत्पत्ति का मूल परमेश्वर को ही प्रतिपादित किया गया है।[1]

यदि यह आक्षेप किया जाय, कि निराकार ईश्वर से वेद की उत्पत्ति कैसे हो सकती है, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के विषय में ऐसी शङ्का करनी ही व्यर्थ है। जिस प्रकार मुखादि अवयवों के बिना भी मानस व्यापार में शब्दोच्चारण आदि क्रियाएं सम्पन्न हो सकती है, उसी प्रकार परमेश्वर में भी मुखादि के विना भी सामर्थ्यवशात् मुखादि का काम हो सकता है। केवल अल्पसामर्थ्यवाले जीव ही मुखादि के बिना मुखादि का कार्य नहीं कर सकते।

यदि व्याकरण आदि शास्त्रों की भांति वेदों का रचयिता भी मनुष्यों को माना जाय तो यह उचित नहीं है, क्योंकि अध्ययन और ज्ञान के विना कोई विद्वान् नहीं हो सकता। वेदोपदेश के बिना वेदों का ज्ञान किसी मनुष्य के के लिए असम्भव है। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर के द्वारा मनुष्य को सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ज्ञान दिया गया है, अतः वेदोत्पत्ति के मूल में ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही क्या है? तो इसका समाधान यह है, कि एकान्तसेवी बालक एवं वनवासियों को भी ईश्वरप्रदत्त स्वाभाविक ज्ञान होता है, किन्तु बालक और वनवासी विद्वान् नहीं बन जाते। स्वाभाविक ज्ञान से कोई विद्यावान् नहीं बनता। ईश्वर के द्वारा उपदिष्ट वेदों का अध्ययन किए विना कोई मनुष्य यथार्थज्ञानी नहीं हो सकता। यदि सृष्टि के आरम्भ में परमेश्वर द्वारा वेदों का उपदेश न दिया जाता, तो कोई भी मनुष्य धर्मादि की शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ न होता और उस समय विद्या के किसी ग्रन्थ का अभाव होने से तथा विद्याध्ययन तथा अध्यापन की व्यवस्था के विद्यमान न होने से और विद्या से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ के न होने से किसी मनुष्य के द्वारा किसी ग्रन्थ का रचा जाना सम्भव न था। परमेश्वर द्वारा वेदोपदेश किए जाने की स्थिति में ही मनुष्य विद्वान् बनकर बाद में ग्रन्थलेखन में समर्थ हो सकता है।

जीव लोक पर अनुकम्पा करके ही ईश्वर ने वेदों का प्रकाश किया है। ईश्वर में अनन्तविद्या का भण्डार है। उसकी विद्या का प्रयोजन अपने ही लिए

---

1. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥
अथर्व० 10.7.20

है, जिससे सभी पदार्थ रचे और जाने जाते हैं। विद्या की सिद्धि स्वार्थ और परार्थ के लिए होती है, क्योंकि स्वार्थ और परार्थ को सिद्ध करना यही विद्या की मुख्य विशेषता है।

जिस प्रकार हस्तपादादि अवयवों के बिना ईश्वर के द्वारा सृष्टि की गई है, उसी प्रकार उसके द्वारा वेदों का प्रकाश किया गया है। उसने सर्वप्रथम ग्रन्थ के रूप में वेदों की रचना नहीं की, अपितु अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा के ज्ञान के मध्य में वेदों को प्रकाशित किया था।[1] स्वामी दयानन्द जी के अनुसार अग्नि, वायु, सूर्य और अङ्गिरा जडपदार्थ न होकर मनुष्यरूपधारी प्राणिविशेष हुए हैं, जिन्होंने वेदों का प्रकाश ग्रहण करके ब्रह्मादि में वेदों को प्रकाशित कराया।[2]

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन संहिताओं को वेद और श्रुति इन दोनों ही नामों से जाना जाता है। वेद शब्द की निष्पत्ति विद (ज्ञाने) विद (सत्तायाम्), विद्‌लृ (लाभे) और विद (विचारणे) इन चार धातुओं से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय के संयोग से होती है। श्रुति शब्द श्रवण करना अर्थ वाली श्रु धातु से करण कारक में 'क्तिन्' प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है। जिनके अध्ययन से यथार्थ विद्या ज्ञात होती है, जिन्हें पढ़कर लोग विद्वान् होते हैं, जिनके अध्ययन से सभी सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक २ सत्य और असत्य का विचार सभी मनुष्यों को होता है, वे वेद हैं।[3] आदि सृष्टि से लेकर आज पर्यन्त सभी सत्यविद्याएं सुनी जाती हैं,

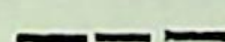
---

1. अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
   दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थम् ऋग्यजुःसामलक्षणम्॥
   मनु० 1.23
   अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
   मनु० 2.151
   तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥ —शब्रा० 11.5.2.3
2. एषां ज्ञानमध्ये प्रेरयित्वा तद्द्वारा वेदाः प्रकाशिताः।
   —ऋग्वेदादि०—स्वामिदयानन्द, पृ० 18
3. विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विदन्ति विदन्ते लभन्ते, विदते विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः। — ऋग्वेदादि०, पृ० 22

इसी से इसका अन्य नाम 'श्रुति' भी है ।[1]

दयानन्द के अनुसार वेदों की उत्पत्ति में एक वृन्द छानबे करोड़, आठ लाख, बावन हजार, नौ सौ छियत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । वर्तमान सृष्टि सप्तम मनु वैवस्वत की है, जिससे पहले छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। एक हजार चतुर्युगियों का नाम 'मन्वन्तर' है। सत्रह लाख अट्टाइस हजार वर्ष का सत्त्वयुग, बारह लाख छियानबे हजार वर्ष का त्रेता, आठ लाख चौसठ हजार वर्ष का कलियुग है । इन चारों युगों के वर्षों की संख्या ४३२०००० (तैंतालिस लाख बीस हजार) है। एक चतुर्युगी अर्थात् मन्वन्तर में ४३२००००×७१ =३०६७२०००० (तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार) वर्ष होते हैं। सातवें मन्वन्तर में यह अट्ठाइसवीं चतुर्युगी है, जिसमें अट्ठाइसवें कलियुग के प्रथम चरण का भोग हो रहा है।

विलसन और मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वेदों को मनुष्यविरचित माना जाना सर्वथा अनुपयुक्त है। वास्तव में वेदों की उत्पत्ति परमेश्वर से हुई है। स्वामी दयानन्द जी ने पाश्चात्य विद्वानों के वेदोत्पत्ति विषयक आधुनिक मत को सर्वथा भ्रममूलक बताया है।



1. आद्यसृष्टिमारभ्याद्यपर्यन्तं ब्रह्मादिभिः सर्वाः सत्यविद्याः श्रूयन्तेऽनया सा 'श्रुतिः'। —ऋग्वेदादि०, पृ० 22

४

वेदों की नित्यता

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों का नित्यत्व स्वीकार किया है, जिसके प्रमुख कारण के रूप में उन्होंने प्रतिपादित किया है, कि वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है और ईश्वर सर्व सामर्थ्य युक्त होते हुए नित्य ही है, अतः वेदों का नित्यत्व सिद्ध हो जाता है।[1]

वेदनित्यताविषयक उपर्युक्त सिद्धांत पर यह आक्षेप भी उठता है कि वेदों में छन्द, पद और वाक्यों का एकत्र समाहार उपलब्ध होता है, अतः अन्य लौकिक ग्रंथों की भांति वेदों की रचना भी किसी व्यक्ति के द्वारा की गई है, अतः कार्य होने के कारण इनकी नित्यता सिद्ध नही होती। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसका यह समाधान किया है कि शब्दों के दो प्रकार हैं—

(1) नित्य, (2) कार्य।

जिन शब्दों, अर्थों और सम्बन्ध की उपलब्धि परमेश्वर के ज्ञान में होती है, वे नित्य हैं और जो सामान्य लोगों की कल्पना से प्रसूत होते हैं, वे कार्य होते हैं। जिन शब्दों का ज्ञान और क्रिया स्वभाव से सिद्ध हो और अनादि है, उनकी

1. ईश्वरस्य सकाशाद्वेदानामुत्पत्तौ सत्यां स्वतो नित्यत्वमेव भवति, तस्य सर्वसामर्थ्यस्य नित्यत्वात्। ऋग्वेदादि० पृ० 30

सामर्थ्य भी नित्य है। वेद परमेश्वर की विद्या के रूप में होने के कारण नित्य ही हैं।

वेदों की नित्यता पर एक आक्षेप यह भी हो सकता है, कि जगत् के परमाणुओं के पृथक्-2 हो जाने पर उनकी कारणरूपता के होने से कार्यरूप स्थूलजगत् का अभाव हो जाता है, जिससे कार्यरूप वेद ग्रंथों का भी अभाव हो जाता है, अतः वेदों की नित्यता कैसे सिद्ध होगी ? इस का समाधान यह है कि उपर्युक्त आक्षेप का सम्बन्ध पुस्तक, पत्र, स्याही और अक्षरों की रचना से सम्बन्धित पक्ष से है और लोगों के क्रियापक्ष से है, अतः उक्त आक्षेप वेदपक्ष में नहीं घटता। वेद का स्वरूप तो शब्द, अर्थ और सम्बन्धरूप में है, कागद, स्याही आदि रूप में नहीं है। वेदों के अध्ययन, अध्यापन और ग्रंथ के अनित्य होने से वेदों का अनित्यत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि बीजाङ्कुर न्याय से वेदों की सत्ता ईश्वर के ज्ञान में नित्य रहती है। सृष्टि के प्रारम्भ में वेदों की प्रसिद्धि होती है और प्रलय के कारण जगत् का अभाव हो जाने से वेद यद्यपि अप्रसिद्धि की अवस्था में रहते हैं, अतः वेदों का नित्यत्व स्पष्ट ही है।

वेदों के अन्तर्गत शब्द, अक्षर, अर्थ और संबन्ध का होना इस कल्प की सृष्टि में है और पूर्व कल्प में भी था। चारों वेदों की संहिताओं में शब्द, अर्थ, संबन्ध, पद और अक्षरों की विद्यमानता जिस क्रम से है, वह शाश्वत् है, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान नित्य है। उस ज्ञान में वैपरीत्यभाव देखने में नही आता।

वेदों की नित्यता के विषय में व्याकरणादि शास्त्रों का प्रामाण्य है। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने कहा है कि सब शब्द नित्य हैं, क्योंकि इन शब्दों में जितने अक्षरादि अवयव हैं, वे सब कूटस्थ अर्थात् विनाशरहित हैं और वे पूर्वापर विचलते भी नही तथा उनका अभाव या आगम कभी नहीं होता।[1] महाभाष्यकार के अनुसार शब्द वह है, जो कान से सुनकर ग्रहण किया जाता है, जो बुद्धि से जाना जाता है, जो वागिन्द्रिय से उच्चारण किए जाने से प्रकाशित होता है तथा जिसके निवास का स्थान आकाश है। वेद के शब्द तो नित्य हैं ही, किंतु जो शब्द वेद से लोकभाषा में आए हैं, वे भी नित्य हैं, क्योंकि उन वर्णों के मध्य में सब वर्ण अविनाशी और अचल हैं तथा इन शब्दों में लोप,

---

1. नित्याः शब्दानित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिरिति।—महाभाष्य०

आगम और वर्णविकार की स्थिति नहीं बन पाती, इस कारण से इनकी नित्यता है।

लोगों की वाणी भिन्न-2 वर्णों का उच्चारण करने में भिन्न-2 रूप को प्राप्त करती है, जिसके कारण उच्चारण और श्रवणादि क्रिया के क्षणभङ्गुर होने से शब्द अनित्य सा प्रतीत होने लगता है, किंतु ऐसा नहीं है, क्योंकि शब्द तो सर्वदा अखण्ड एवं एकरस बना रहता है।

यदि यह आक्षेप किया जाए कि उच्चारण से पूर्व शब्द का अस्तित्व नहीं होता और उच्चारण के बाद शब्द नष्ट हो जाता हैं, तो शब्द की नित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है, तो इसका समाधान यह है कि शब्द तो आकाश की भांति व्यापक है और उच्चारण क्रिया के अभाव से श्रुतिगोचर नहीं होता। जब प्राण और वाणी की क्रिया शब्दोच्चारण का कारण बनती है, तो शब्द प्रसिद्ध होता है। जिस प्रकार 'गौः' इस शब्द में जब तक उच्चारण क्रिया गकार में होती है, तब तक औकार में नहीं होती और जब औकार में होती है तब गकार और विसर्जनीय में नहीं होती। इस तरह वाणी की क्रिया उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, और शब्द का नाश नहीं होता, किंतु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से वह अखण्ड और एकरस बना रहता है। जब तक उच्चारण और श्रवण के लिए वायु और वागिन्द्रिय की क्रिया सम्पन्न नहीं होती, तब तक शब्द उच्चारण एवं श्रवण का विषय नहीं बनता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्याकरण शास्त्र ने शब्दों को नित्य माना है, अतः वैदिक शब्दों का नित्यत्व तो स्वतःसिद्ध हो जाता है।

मीमांसादर्शन में भी शब्दो को नित्य माना गया है। विनाश रहित होने के कारण शब्द नित्य है, क्योंकि उच्चारण क्रिया अर्थ के ज्ञापन के लिए होती है इस कारण से शब्द अनित्य नहीं है।[1] मीमांसासूत्र में उपलब्ध 'तु' शब्द से शब्दों के अनित्य होने की आशंका का निवारण होता है। शब्द नित्य हैं, क्योंकि दर्शन अर्थात् उच्चारण पर अर्थात् अर्थ का ज्ञान कराने के लिए है।[2] जिस शब्द का उच्चारण किया जाता है, उसी शब्द की प्रत्यभिज्ञा होती है। श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ज्ञान के बीच वही शब्द स्थिर हो जाता है और फिर उसी शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है। जिस प्रकार अनेक स्थानों में भिन्न-2 व्यक्ति

1. नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्—पूर्वमीमांसासूत्र १.१.१८।
2. दर्शनस्योच्चारणस्य परस्यार्थस्य ज्ञापनार्थत्वात्।—ऋग्वेदादि०, पृ० 35

एक काल में एक ही 'गो' शब्द का उच्चारण करते हैं, इसी तरह उसी शब्द का बारंबार उच्चारण किया जाता है, अतः शब्द नित्य है। शब्द के अनित्य होने की स्थिति में ऐसी व्यवस्था नही बन सकती थी।

वैशेषिक सूत्रकार कणादमुनि ने कहा है कि वेद ईश्वरोक्त है और इनमें सत्य विद्या और पक्षपातरहित धर्म का ही प्रतिपादन है।[1]

न्यायदर्शन के प्रणेता गोतममुनि ने भी वेदों की नित्यता का प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार मंत्र और आयुर्वेद की प्रामाणिकता है, उसी प्रकार वेदों का भी प्रामाण्य है, क्योंकि आप्त पुरुषों ने वेदों को प्रामाणिक माना है।[2] वात्स्यायन ने न्यायसूत्रभाष्य में वेदों की नित्यता का प्रतिपादन इस प्रकार किया है कि जिस प्रकार आप्तों के उपदेश की प्रामाणिकता होती है, उसी प्रकार सभी आप्तों का जो आप्त, सब का गुरु परमेश्वर है, उसके द्वारा उपदिष्ट वेदों की नित्यता की प्रामाणिकता स्वीकार्य है।[3]

योगशास्त्र के अंतर्गत पतञ्जलि ने सृष्टि के आदि में उत्पन्न अग्नि, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मा आदि प्राचीन पुरुषों एवं हम जैसे अर्वाचीन लोगों के गुरु के रूप में परमेश्वर को माना है, क्योंकि उसने वेदों द्वारा सत्य अर्थ का उपदेश दिया है। ऐसे अनन्त विज्ञानयुक्त तथा सर्वदा एकरस परमेश्वर के रचे वेदों का नित्यत्व असन्दिग्ध है।[4]

परमेश्वर की स्वाभाविक विद्याशक्ति से प्रादुर्भूत होने के कारण वेदो की नित्यता एवं उनका स्वतः प्रामाण्य स्वीकार्य है, यह सांख्यदर्शन में कपिलाचार्य ने प्रतिपादित किया है।[5]

कृष्णद्वैपायन व्यास ने वेदान्तसूत्र में ईश्वर को सभी शास्त्रों का मूल कहा है।[6] इस सूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य ने वेदों की नित्यता स्वीकार की

1. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्—वैशेषिकसूत्र 1.1.3
2. मंत्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।
—न्यायसूत्र 2.1.67
3. नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादित्युक्तम्।
—वात्स्यायनभाष्य, न्याय सू० 2.1.67
4. स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्—योगसूत्र 1.1.26
5. निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम्, सांख्यसूत्र 5.1,
6. शास्त्रयोनित्वात्—ब्रह्मसूत्र 1.1.3

है। वास्तव में सर्वत्र ब्रह्म से भिन्न कोई व्यक्ति सर्वज्ञगुणयुक्त वेदों का प्रणयन कर ही नहीं सकता।[1] वेदों की प्रामाणिकता की सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वेद स्वतःप्रमाण हैं।[2]

यजुर्वेद संहिता में परमेश्वर के द्वारा प्रकाशित वेदों का प्रामाण्य मिलता है। परमेश्वर ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजाओं के हित के लिए सभी विद्याओं से युक्त वेदशास्त्र का उपदेश किया है।[3]

शास्त्रीय प्रमाणों से जिस प्रकार वेदों की नित्यता सिद्ध होती है, उसी प्रकार युक्ति से भी वेद प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का अभाव भी नहीं हो सकता। परमेश्वर में अनन्तविद्या है, इसीलिए उसने मानवहितार्थ वेदों के रूप में उसका उपदेश किया है। अनन्तविद्या के अभाव में ईश्वर द्वारा किया जाने वाला वेदोपदेश असंभव है। यदि वेदों का कारण ईश्वर नित्य है, तो सत्कार्यवाद के नियम के अनसार कार्यरूप वेदों की भी नित्यता सिद्ध हो जाती है।

यदि वेदों का उपदेश ईश्वर द्वारा न किया जाता, तो मनुष्यों के अन्दर विद्या का संस्कार भी न पड़ता, जिसके अभाव में मनुष्यों के अन्दर विद्या का लेश भी न होता। ईश्वरोपदेश के कारण ही वेदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके विद्या का संस्कार मनुष्यों के अन्दर चला आया है।

परमेश्वर से उपदिष्ट वेदविद्या आने के पश्चात् ही मनुष्यों की विद्या और उसके ज्ञान में वृद्धि हुई, क्योंकि परमेश्वर के सभी गुण सहज है, इस कारण से परमेश्वर की विद्या के रूप में वेदों का नित्यत्व स्पष्ट हो जाता है।

आधार की नित्यता के कारण नित्यवस्तु के नाम, गुण और कर्म भी नित्य होते हैं और बिना आधार के किसी वस्तु के नाम, गुण और कर्म आदि

---

1. न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।—शां भा० (ब्र०सू० 1.1.3)
2. अत ईश्वरोक्तत्वान्नित्यधर्मकत्वाद् वेदानां स्वतः प्रामाण्यम्।
—ऋग्वेदादि०—पृ० 39
3. कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।—यजुर्वेद 40.8

स्थिर नहीं हो सकते। अनित्य वस्तुओं के नाम, रूप और कर्म भी अनित्य होते हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदों की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा है कि अजन्मा, अनादि, नित्य, अनन्त विद्या वाले एव सत्यसामर्थ्य से युक्त ईश्वर से वेदों के प्रकट होने के कारण एवम् ईश्वरीय ज्ञान में वेदों की वर्त्तमानता के कारण उनकी नित्यता सिद्ध होती है।

———

५

वेदविषय

यद्यपि वेदों के विषय अनेक हैं, किंतु दयानन्द सरस्वती ने प्रमुख रूप से वेदविषय को चार भागों में बांटा है—

(1) विज्ञान (2) कर्म

(3) उपासना और (4) ज्ञान

(1) विज्ञान काण्ड—यह वेद विषय सर्बप्रथम स्थान पर आता है। विज्ञान का सम्बन्ध कर्म, उपासना और ज्ञान के यथावत् उपयोग से है। परमेश्वर से लेकर तृणपर्यंन्त पदार्थों का साक्षाद् ज्ञान विज्ञान के माध्यम से होता है। विज्ञान में वेदों का मुख्य तात्पर्य है, इसीलिए यह अन्य वेदविषयों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

वेदों का तात्पर्य दो प्रकार से स्वीकार किया गया है—

(1) परमेश्वर के यथावत् ज्ञान के साथ 2 उसकी आज्ञा का निरन्तर पालन।

(2) परमेश्वर विरचित पदार्थों के गुणों पर भली भांति विचार करके उनसे कार्य की सिद्धि करना।

मोक्ष के कारणभूत, आनन्दयुक्त, दुःखरहित तथा सर्वशक्तिमान्

परब्रह्म में ही सभी वेदों का तात्पर्य निहित है।[1] वह परब्रह्म 'ऊँकार' नाम से भी अनिहित है।[2] ऊँ तथा खं ये भी उसी ब्रह्म के नाम हैं।[3]

परमेश्वर को प्राप्त कराने में ही सभी वेदों की प्रवृत्ति है। सत्यधर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम के कर्म भी परमेश्वर की प्राप्ति कराने वाले हैं। प्राप्त करने योग्य ब्रह्म का उपदेश कठोपनिषद् में यम के द्वारा नचिकेता को दिया गया है। यहां स्वामी दयानन्द जी के अनुसार नचिकेता शब्द का प्रयोग जीव के लिए और यम शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किया गया है।

वेदों में दो प्रकार की विद्याएं वर्णित हैं—

(1) अपरा और (1) परा।

1. अपरा :—जिसके द्वारा पृथ्वी से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के ज्ञान से यथावत् उपकार का ग्रहण होता है, वह अपरा विद्या है।

2. परा :—जिस विद्या से अदृश्य आदि विशेषण युक्त सर्वशक्तिमान् ब्रह्म का ज्ञान होता है, वह विद्या 'परा' नाम से जानी जाती है। यह विद्या अपरा विद्या से उत्कृष्ट है। इस विषय के समर्थन में ऋग्वेद का प्रामाण्य उद्धृत किया जा सकता है। व्यापक परमेश्वर के प्राप्त होने योग्य मोक्ष नामक पद को विद्वान् लोग सर्वदा देखते हैं।[4] समन्वयपूर्वक वैदिक वाक्यों में उसी परमेश्वर का प्रतिपादन किया गया है।[5] कहीं पर ऐसा प्रतिपादन साक्षात् रूप से किया गया है और कहीं पर परम्परा से परमेश्वरविषयक वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि वेदों का परम अर्थ ब्रह्म ही है।

यजुर्वेद में परब्रह्म के विषय में कहा गया है कि परब्रह्म से भिन्न कोई दूसरा उत्तम पदार्थ प्रकट नहीं है।[6]

---

1. सर्वेवेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्—कठ० 2.15
2. तस्य वाचकः प्रणवः।—योगसूत्र० 1.1.27.
3. ऊँ खं ब्रह्म।—यजुर्वेद 40.17.
4. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
   दिवीव चक्षुराततम्॥
   —ऋग्वेद अष्टक 1. अध्याय 2. वर्ग 7. मन्त्र 5
5. तत्तु समन्वयात्। —ब्रह्मसूत्र 1.1.4.
6. यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति। —यजुर्वेद 8.36.

वेदों के मुख्य अर्थ के रूप में परमेश्वर को और गौण अर्थ के रूप में जगत् को मान्यता प्राप्त है। प्रधान और गौण में से प्रधान के प्रति प्रयत्न करणीय है। सभी वेदों का मुख्य तात्पर्य ईश्वर रूप मुख्य अर्थ में ही है।

कर्मकाण्ड

वेदों का द्वितीय विषय कर्मकाण्ड है। कर्मकाण्ड क्रियाप्रधान होता है। विद्याभ्यास और ज्ञान की पूर्णता के लिए कर्मकाण्ड आवश्यक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार कर्मकाण्ड के दो प्रमुख भेद हैं :—

1. परमार्थ और 2. लोकव्यवहार।

1. परमार्थ :—स्वामी दयानन्द जी के अनुसार न्यायाचरण धर्म के स्वरूप के रूप में आता है।[1] पक्षपात को छोड़कर सत्यग्रहणपूर्वक असत्य परित्याग रूप धर्म के ज्ञान एवम् अनुष्ठान का विधिवत् सम्पादन कर्मकाण्ड का प्रमुख भाग है।

2. लोक व्यवहार :—जब कर्मकाण्ड का सम्बन्ध अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों से होता है, तब वह सकाम हो जाता है। सकाम कर्म जन्म, मृत्यु के फलभोग युक्त होता है।

परमार्थ और लोक व्यवहार के उपर्युक्त भेदों को निष्काम और सकाम रूप में भी जाना जाता है। मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत परमेश्वर की प्राप्ति के लिए धर्मयुक्त कर्मों को बिना किसी कामना के करना निष्काम कर्ममार्ग है। इस मार्ग में भोगों की भावना या इच्छा नहीं होती। ऐसे कर्म का अक्षय फल है। सकाम कर्ममार्ग के अन्तर्गत भोगों की भावना से धर्मसम्मत कर्म किए जाते हैं। ऐसे कर्म का फल नश्वर है।[2]

अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि हविर्यज्ञों और अश्वमेधादि के अनुष्ठान में प्रयुक्त द्रव्य चार प्रकार के हैं :—

1. सुगन्धगुणयुक्त—कस्तूरी केशरादि।
2. मिष्टगुणयुक्त—गुड़ और शहत् आदि।
3. पुष्टिकारकगुणयुक्त—घृत, दुग्ध और अन्नादि।
4. रोगनाशकगुणयुक्त—सोमलता आदि ओषधियां।

---

1. ऋग्वेदादि०, पृ० 52
2. ऋग्वेदादि० पृ० 53

उपर्युक्त द्रव्यों का शोधन, संस्कार और यथोचित रूप से मिलाकर उनका होम किया जाता है, जिससे वायु शुद्धि होती है तथा वृष्टि भी हो जाती है।

पूर्वमीमांसा के अनुसार यज्ञकर्त्ता को द्रव्य संस्कार तथा उनका यथोचित उपयोग अवश्य करना चाहिए।[1] सुगन्धादि से सम्पन्न चतुर्विध द्रव्यों का होम करने से जगत् का अत्यधिक उपकार होता है। यज्ञ से जो बाष्प उठता है, वह वायु और वृष्टि के जल को शुद्ध करके जगत् को सुगन्धित करते हुए सुखी करता है।

ऐतरेयब्राह्मण के अनुसार यज्ञ जनता के सुख के लिए होता है। संस्कार किए गए द्रव्यों का होम करने वाला विद्वान् मनुष्य आनन्द को प्राप्त करता है।

शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि अग्नि में डाले गए द्रव्य से धूम एवं बाष्प उठता है। यह अग्नि की प्रकृति है कि वह वृक्ष, ओषधि, जल आदि पदार्थों में प्रवेश करके उन्हें भिन्न-२ कर देती है। वह हल्की होकर वायु के साथ आकाश में चढ़ जाती है। इसमें रहने वाला जल का अंश बाष्प है और शुष्क अंश पृथ्वी का भाग है। बाष्प और शुष्क दोनों का योग धूम नाम से अभिहित है। जब ये परमाणु वायु के आश्रित होकर मेघमण्डल में विद्यमान होते हैं, तो आपस में मिलकर वे बादल होते है और उनसे वर्षा होती है, वर्षा से ओषधियां, ओषधियों से अन्न, अन्न से धातु, धातुओं से शरीर और शरीर से कर्म बन जाता है।[2]

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि परमात्मा की अनन्त शक्ति से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि तत्त्व उत्पन्न हुए हैं[3] और उनमें

---

1. द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्।

—मी सू 4.3

2. अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते।

—शब्रा० 5.3.

3. तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद् वायुः वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः, पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः; स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

—तै० उ०, आनन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक

ही शरीर आदि उत्पत्ति, जीवन और प्रलय को प्राप्त होते हैं।

तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्न को ब्रह्म कहा गया है। अन्न की प्राप्ति वनस्पतियों से होती है, अतः वायु, जल और वनस्पतियों की शुद्धि होम के द्वारा की जानी चाहिए। वातावरण के दुर्गन्ध आदि के निवारणार्थ होम आवश्यक है।

होम करने में वेदमन्त्रों का विनियोग किया जाता है। यदि यहां यह आक्षेप किया जाय, कि होम करने से ही होम का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, अतः होम में वेदमन्त्रों के उच्चारण की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि वेदमन्त्रों के पाठ से होम के पृथक-२ फलों का स्मरण होता है और मन्त्रों के पढ़ने से वेदों की रक्षा, ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना और उपासना होती है। यज्ञ में वेदमन्त्रों के अतिरिक्त अन्य मन्त्रों के पाठ का वह फल नहीं होता। वेद का महत्त्व यह है कि चारों वर्ण, चारों आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि की सब विद्याओं की प्रसिद्धि वेदों से ही होती है।[1]

यज्ञानुष्ठान के लिए पृथिवी को खोदकर वेदी की रचना करना, प्रणीतापात्र, प्रोक्षणीपात्र आदि का द्वन्द्वस्थापन, दर्भ का रखना, ऋत्विग्वरण और यज्ञशाला की रचना आदि कहा तक उपयुक्त है, इस विषय में स्वामी दयानन्द का विचार है कि उपर्युक्त विषयों में जो जो युक्ति से सिद्ध होता है, वह करणीय है। भूमि खोदकर वेदी का निर्माण आवश्यक है, क्योंकि ऐसी वेदी में होम करने से हुत द्रव्य शीघ्र ही परमाणु रूप हो जाता है और वायु तथा अग्नि के साथ आकाश में फैल जाता है। भिन्न-२ यज्ञों में वेदी की रचना भी भिन्न प्रकार की होती है, जिसमें त्रिभुज, चतुर्भुज, गोल तथा श्येनपक्षी के आकार के दर्शन होते है। ऐसी वेदी की रचना से रेखागणितविद्या का ज्ञान भी होता है। यज्ञ में प्रयुक्त पात्रों की रचना सुवर्ण, चांदी या काष्ठ से होती है, जिससे उन पात्रों में रखा हुआ घृत आदि खराब नहीं होता। यज्ञशाला बनाने का प्रयोजन यह है कि यज्ञाग्नि को वायु प्रभावित न करे। ऋत्विग्वरण इसलिए आवश्यक है कि ऋत्विज़ों के बिना यज्ञ का काम ही नहीं चलता। यज्ञ को जिस प्रकार सम्पन्न करने में वह उत्कृष्ट बने, वही पद्धति यज्ञ के लिए अपेक्षित है।

---

1. चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥ —मनु॰ 1.2.

देवता काण्ड

यज्ञ में देवता शब्द से उन्हीं का ग्रहण होता है, जिनके नाम वेदों में मिलते है। यजुर्वेद में देवता शब्द के अन्तर्गत, अग्नि, वात, सूर्य, चन्द्रमा, वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत्, विश्वेदेव, बृहस्पति, इन्द्र और वरुण को ग्रहण किया गया है।[1] कर्मकाण्ड में मुख्यतया देवता शब्द वेदमन्त्रों का वाचक है और गायत्री आदि छन्द भी देवता शब्द से अभिहित होते हैं।[2] जिस मन्त्र में अग्नि आदि शब्द पाए जाते हैं, वह अग्निदेवताक है। मन्त्रों को देवता इसलिए कहा जाता है कि उन्हीं से सभी अर्थ प्रकाशित होते हैं। देवता वाचक देव शब्द की निष्पत्ति दान, दीपन, द्योतन और द्युस्थान से हुई है।

अपने स्वामित्व की निवृत्तिपूर्वक दूसरे के स्वामित्व की स्थापना दान कहलाता है। दीपन का अर्थ प्रकाशन है। द्योतन शब्द उपदेशादि के लिए प्रयुक्त है। द्युस्थान का अर्थ है आदित्यरश्मियां या प्राण, सूर्य आदि जिसकी स्थिति के लिए हैं, वह द्युस्थान है। प्रकाशकों का भी प्रकाशक होने के कारण परमेश्वर ही देव है।

सूर्य, चन्द्र, तारे, विद्युत् और अग्नि ये परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते, किन्तु परमेश्वर के प्रकाशित होने पर ही सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं।[3] सूर्य, चन्द्र आदि में स्वतन्त्र रूप से प्रकाश नहीं होता, अतः मुख्य देव एक ही है, जो परमेश्वर ही है।

वेदों में देव शब्द से कहीं-2 पर इन्द्रियों का ग्रहण होता है।[4] कर्मकाण्ड के अन्तर्गत कार्यकारण सम्बन्ध के होने से सर्वत्र परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करणीय है। निरुक्त में कहा गया है कि सभी वेदों में एक

---

1. अग्निर्देवता वातो देवता, सूर्य्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता। यजु० सं० 14.20
2. देवताशब्देन वेदमन्त्राणां ग्रहणम्। गायत्र्यादीनि छन्दांसि ह्यग्न्यादि-देवताख्यान्येव गृह्यन्ते। —ऋग्वेदादि०, पृ० 68
3. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकंनेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनि० 5.15
4. नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्—यजुर्वेद 40.4

परमात्मा की अनेक प्रकार की स्तुति प्राप्त होती है । अन्य देवता उसी के प्रत्यङ्ग हैं ।[1]

वेदों में 33 देवताओं का उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] तैंतीस देवताओं में आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति हैं ।

वसु—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्र और नक्षत्र ये आठ वसु हैं ।

रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र हैं ।

आदित्य—बारह मास ही बारह आदित्य हैं ।

इन्द्र—इन्द्र शब्द का अर्थ विद्युत् है ।

प्रजापति—इस शब्द का अर्थ यज्ञ है ।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि सबका आत्मभूत परमात्मा ही उपास्य है ।[3]

देव शब्द की निष्पत्ति के कारणभूत 'दिवु' धातु का प्रयोग निम्न दश अर्थों में होता है—

(1) क्रीडा—खेलना
(2) विजिगीषा—जीतने की इच्छा
(3) व्यवहार—बाह्य एवम् आभ्यन्तर व्यवहार
(4) स्वप्न—निद्रा
(5) मद—आह्लाद
(6) द्युति—प्रकाश करना
(7) स्तुति—गुणों का कीर्त्तन करना
(8) मोद—प्रसन्नता
(9) कान्ति—शोभा और
(10) गति—ज्ञान, गमन और प्राप्ति ।

---

1. महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।—नि० 7.4
2. ये त्रिंशति त्रयस्परो देवासो बर्हिरासदन्—ऋ०अ० 6, अ० 2, व० 35 म० 1 यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा
3. आत्मेत्येवोपासीत ।—शतपथ०, का० 14, अ० 4, ब्रा०, 2, क० 19

'दिव्' धातु के प्रथम पांच अर्थ व्यावहारिक हैं, जो अग्नि आदि पदार्थों में लागू हैं, किन्तु परमेश्वर विषयक अर्थ पूर्णतया बहिष्कृत नहीं हैं, जिसका कारण है कि परमेश्वर की व्यापकता और रचना से ही अन्य देव दिव्यगुणों से सम्पन्न हैं। बाद के पांच अर्थ प्रमुख रूप से परमेश्वरपरक हैं।

देवता के प्रकार :—

देवता के दो प्रकार हैं—

(1) मूर्त्तिमान् और

(2) अमूर्त्तिमान्।

(1) **मूर्त्तिमान्**—मूर्त्ति या आकार से युक्त देवता मूर्त्तिमान् कहे जाते है। ये चार हैं—

(1) माता (2) पिता (3) आचार्य और (4) अतिथि।

इसके अरिरिक्त अग्नि, पृथिवी, आदित्य, चन्द्र और नक्षत्र ये पांच मूर्त्तिमान् देवों की श्रेणी में आते हैं।

(2) **अमूर्त्तिमान्**—जिसका आकार न हो, वह अमूर्त्तिमान् कहा जाता है। परब्रह्म की किसी प्रकार की कोई मूर्ति नहीं है[1], अतः वह अमूर्त्तिमान् देव है।

इसके अतिरिक्त ग्यारह रुद्र, ग्यारह आदित्य, मन, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ और मन्त्र ये सभी अमूर्त्तिमान् देव हैं।[2]

उभयविधदेव—कुछ देव ऐसे हैं, जो मूर्त्तिमान् तथा अमूर्त्तिमान् दोनों ही स्वरूप से युक्त हैं। ऐसे देवों में पांच ज्ञानेन्द्रियां, विद्युत् और विधियज्ञ आते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का शक्तिस्वरूप द्रव्य अमूर्त्तिमान् है और गोलक मूर्त्तिमान है।

वेदों में जहां पर उपास्य रूप में देव का उल्लेख है, वहां वह परमेश्वर का वाचक है। यदि पाश्चात्त्य विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित पृथिव्यादि भूतों के पूजन का वेदों में विधान-विषयक आक्षेप स्वीकार किया जाए, तो वेदों के प्रतिपाद्य विषय से इसका विरोध होगा, क्योंकि इन्द्र, वरुण और अग्नि नामों से एक परमेश्वर के पूजन का ही विधान वेदों में मिलता है।[3]

———

1. न तस्य प्रतिमा अस्ति।—यजुर्वेद 32.3
2. ऋग्वेदादि०—दयानन्द पृ० 81
3. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
   एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
   —ऋ० 1.164.46

६

वेदोक्त धर्म

वेदों में जिसके करने का विधान किया गया है, उसका पालन करना धर्म है और वेदप्रतिषिद्ध कर्मों को करने का नाम अधर्म है।[1] वेदों में प्रतिपादित प्रयोजन से युक्त अर्थ ही धर्म है [2] परमेश्वर के द्वारा सभी मनुष्यों के लिए धर्म का उपदेश दिया गया हैं। पक्षपात से रहित सत्याचरण से युक्त तथा न्यायपूर्ण धर्म का अनुसरण करना चाहिए और उसके विपरीत मार्ग से दूर रहना चाहिए। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए परस्पर सम्मति में रहो। सत्य-विद्या को बढ़ाने के लिए विरुद्ध वाद को छोड़कर परस्पर प्रीतिपूर्वक संवाद करना चाहिए। अपने यथार्थज्ञान को नित्य बढ़ाना चाहिए, ताकि मन प्रकाशित होकर पुरुषार्थ की वृद्धि में सहायक बने। जिस प्रकार पक्षपात से रहित होकर धर्मात्मा विद्वान् वैदिक रीति से सत्यधर्म का आदर करते हैं, उसी प्रकार

2. वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।

—अर्थसंग्रह।

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।

—मी० सू० १.१.२.

सामान्य लोगों को भी वेदों का आदर करना चाहिए ।[1]

मनुष्यों के मन्त्र अर्थात् उनके सत्य और असत्य के विचार में समानता होनी चाहिए। जब भी परस्पर मिलकर विचार किया जाय, तब २ सभी के वचन अलग २ सुनकर धर्मयुक्त और हितकर वचनों को पृथक् करके उनका प्रचार करना चाहिए। लोगों का मन और चित्त सभी मनुष्यों के ही सुख के लिए प्रयत्नशील रहें। इस प्रकार के उपकारी मनुष्य पर ही ईश्वरीय कृपा रहती है। सभी मनुष्य ईश्वरीय आज्ञा पर चलें, जिससे सत्य धर्म की वृद्धि हो और असत्य का विनाश हो ।[2]

मनुष्यों के द्वारा ईश्वरोक्त धर्म को ही ग्रहण किया जाना चाहिए। धार्मिक प्रवृत्ति के लिए वैदिक रीति से ही ईश्वरोपासना करनी चाहिए। मनुष्य परस्पर प्रेमभाव से व्यवहार करें ।[3]

सभी मनुष्यों को ब्रह्म, सत्यविद्या और धर्माचरण इत्यादि शुभगुणों का सेवन करना चाहिए। ईश्वर ने परमप्रयत्न से धर्माचरण और धर्मयुक्त मनुष्यों की रचना की है, अतः वेदविद्या और ईश्वरीय ज्ञान से युक्त होकर मनुष्यों को ज्ञानवर्धन करना चाहिए ।[4]

सत्य का आचरण करने वाला मनुष्य विजय को प्राप्त करता है तथा मिथ्या आचरण करने वाला व्यक्ति पराजय को प्राप्त करता है। सत्याचरण से विद्वानों का मार्ग खुल जाता है। धर्मात्मा विद्वान् लोग जिस मार्ग से चल

---

1. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ —ऋ० 8. 8. 49.2
अ. अ. व. म.

2. समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
—ऋ० 8.8.49.3

3. दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ —यजु० 36.18.

4. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्त ऋते श्रिता।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥
—अथर्व० 12.5.1-2

कर सत्यसुख को प्राप्त करते हैं और जहां पर सत्यस्वरूप सुख का प्रकाश होता है, उसकी प्राप्ति के लिए सत्यधर्म का आचरण और असत्य का परित्याग करना चाहिए।[1] सत्य धर्माचरण के द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।[2]

जब मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म को जानने की ओर होती है, तभी वह सत्य को जानता है, इसलिए सत्य में मनुष्यों को श्रद्धा करनी चाहिए।[3] जो मनुष्य सत्याचरणयुक्त व्रत को करते हैं, वे देव कहे जाते हैं, और जो असत्य का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे मनुष्य हैं।[4]

मनुष्यों के लिए परमेश्वर का यह सार्वभौम उपदेश है कि वह सर्वदा सत्य में ही प्रीति करे।[5]

सभी मनुष्य ज्ञान और विद्या को बढ़ाते हुए एक ब्रह्म की ही उपासना करें। वेदादिशास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन भी साथ-2 चलता रहे। वैसा ही बोलना और मानना चाहिए, जैसा कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक प्रमाणित हो। विद्या प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्याश्रम का धर्म पूर्ण करके आंख आदि इन्द्रियों को अधर्म से मुक्त करके धर्म में लगाना चाहिए। आत्मा और मन को धर्मसेवन में ही नियोजित करना चाहिए। तीनों वेदो और अग्नि आदि से पुरुषार्थचतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि करनी चाहिए। अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा लोकोपकार करना चाहिए। जगत् के कल्याण के लिये परोपकारी, सत्यवादी, सर्वसुखकाङ्क्षी पूर्ण विद्वानों के सत्सङ्ग से सद्व्यवहार बढ़ाना

---

1. सत्यमेव जयते नानृत सत्येन पन्था विततो देवयान:।
   येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
   —मुण्डक० 3.1.6.
2. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
   —मुण्डक० 3.1.5
3. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
   दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
   —यजु० 19.30
4. सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या:।—शब्रा० 1.1
5. अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापति:।—यजु० 19.77

चाहिये। सभी मनुष्यों के राज्य एवं प्रजा के युक्तिसंगत प्रबन्ध के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों की सिद्धि के द्वारा अपना जन्म सफल करना चाहिये। अपनी सन्ततियों का यथोचित पालन-पोषण, शिक्षा से वैदुष्य, धर्मात्मा तथा पुरुषार्थी बनना चाहिए। सन्तति प्राप्त करने के लिए श्रेष्ठ भोजन और औषध का सेवन वाञ्छित है। शिशुजन्म के समय में प्रसूता तथा शिशु की रक्षा का ध्यान रखना चाहिए।[1]

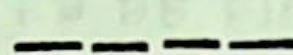
शिष्य को वेद पढ़ाकर आचार्य उसे धर्म का उपदेश इसप्रकार देता है कि हे शिष्य तुम्हें सदैव सत्य बोलना चाहिए अर्थात् ऐसे धर्म का सेवन करना चाहिए, जो सत्यभाषण आदि लक्षणों से युक्त है। शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन कभी न छोड़ना चाहिए। आचार्य की सेवा, सन्तानोत्पत्ति, सत्यधर्म में कुशलता और ऐश्वर्य का संवर्धन सदैव करना चाहिए। विद्वानों और ज्ञानियों से ज्ञान का ग्रहण करने के लिए उनका सेवन सदैव करना चाहिए। माता, पिता, आचार्य और अतिथि का सेवन प्रीतिपूर्वक करना चाहिए। प्रमाद के कारण कभी भी इनका त्याग नहीं करना चाहिए। माता, पिता और आचार्य अपने शिष्यों को ऐसा उपदेश दें कि जो हमारे उत्तम कर्म है, उनका आचरण करो और जो हमारे द्वारा पाप कर्म किए जाते हैं, उनका आचरण मत करो।[2]

कल्याणकारी ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का सम्मान उन्हें आसन आदि देकर करना चाहिए। उन्हें श्रद्धा अथवा अश्रद्धा से, श्री अथवा लज्जा से भय अथवा प्रतिज्ञा से दान देते रहना चाहिए। किसी बात पर सन्देह होने पर, पक्षपात-रहित, पूर्ण विद्वान् तथा धर्मात्मा मनुष्यों से पूछ कर शंका का निवारण करते रहना चाहिए। वे लोग जीवन में जिस प्रकार व्यवहार करें, उसी प्रकार से व्यवहार करना चाहिए।[3] मानवजीवन के कल्याण के लिए तप एक आवश्यक तत्त्व है। ऋत अर्थात् यथार्थ तत्त्व को मानना सत्य है, सत्य बोलना, श्रुत अर्थात् सभी विद्याओं को सुनना, शान्त अर्थात् उत्तम कर्म करना और अच्छे स्वभाव को धारने में सदैव प्रवृत्त होना दान, यज्ञ और तीनों लोकों में व्याप्त

---

1. ऋग्वेदादि० — स्वा० दयानन्द, पृ० 121
2. तैत्ति० आ०, प्र० 7, अनु० 9, 11.
3. ऋग्वेदादि० — स्वामीदयानन्द, पृ० 121.

ब्रह्म की उपासना तप है ।[1] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यभाषण और सत्याचरण से बढ़कर धर्म का कोई लक्षण नहीं माना ।[2] स्वामी जी के कथन की पुष्टि तैत्तिरीय आरण्यक से भी होती है।[3]



1. ऋतं तपः सत्य तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः ।
—तैत्ति० आ०, प्र० 10, अनु० 8.

2. सत्यभाषणात्सत्याचरणाच्च परं धर्मलक्षणं किञ्चिन्नास्त्येव ।
—ऋग्वेदादि०, पृ० 126

3. सत्यं परं परं सत्यम् ।
तैत्ति० आ०, प्र० 10 अनु० 62.

७

वर्णाश्रम व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था के स्रोत वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्था ये दो व्यवस्थाएं आतीं हैं।

वर्णशब्द वरण करना अर्थ वाली वृ धातु से बना है।[1] जाति शब्द उत्पन्न होना अर्थ वाली जन् धातु से निष्पन्न हुआ है। लोकप्रसिद्धि यह है कि वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दुत्व का आधार है, न कि जात्याश्रमव्यवस्था। स्वामी दयानन्द जी वर्णाश्रमव्यवस्था के ही पोषक है। जिस प्रकार के जिसके गुण, कर्म हों, उसी प्रकार का उसे अधिकार देना चाहिए।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में भी कहा गया है, कि गुण कर्म के अनुसार चारों वर्ण ईश्वर के द्वारा बनाए गए हैं।[3] वर्ण संख्या में चार हैं—

1. वर्णो वृणोतेः।—नि० 2.3.
2. गुणकर्माणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ये ते वर्णाः।
—ऋग्वेदादि०, पृ० 267.
3. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
—गीता०

1. ब्राह्मण 2. क्षत्रिय 3. वैश्य और 4. शूद्र।

1. ब्राह्मण—ऋग्वेद में ब्राह्मण को परमेश्वर का मुखस्थानीय स्वीकार किया गया है।[1] शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण को ब्रह्म कहा गया है।[2] ब्रह्म अर्थात् वेद से और परमेश्वर की उपासना से युक्त होते हुए विद्या आदि उत्तम गुणो से सम्पन्न पुरुष ब्राह्मण हो सकता है। स्वामी दयानन्द जी ने इस प्रकार से ब्राह्मणत्व प्राप्ति को गुण तथा कर्म के आधार पर माना है।[3] अच्छे कर्म करने से उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वर्ण का होता है।

2. क्षत्रिय—क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद और यजुर्वेद में राजन्य शब्द से जाना जाता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है कि राजन्य अर्थात् क्षत्रिय का वीर्य अर्थात् पराक्रम वह है, जो भुजाएं हैं।[5] परम ऐश्वर्य, बल और वीर्य के होने से मनुष्य क्षत्रिय वर्ण का होता है। जो पुरुष शत्रुओं का क्षय करने के लिये युद्ध करने को उत्सुक रहता है तथा प्रजा का पालन करने में तत्पर होता है, वह क्षत्रिय वर्ण का हो सकता है।[6] स्वामी दयानन्द जी के अनुसार प्राण का जो आनन्द है, उसे प्रजाओं के लिये देते हुये क्षत्रिय का वीर्य बढ़ता है।[7] शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रिय के अस्त्रशस्त्रों के विषय में कहा गया है कि क्षत्रिय के बाण अर्थात् अस्त्र शस्त्र सदैव प्रकाशित होते हैं।[8]

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्०
—ऋ० 10.90.12.

2. ब्रह्म हि ब्राह्मणः।
—शब्रा०, का० 5, अ० 1, ब्रा० 1, क० 11

3. ब्रह्मणा वेदेन परमेश्वरस्योपासनेन च सह वर्त्तमानो विद्याद्युत्तमगुण-युक्तः पुरुषो ब्राह्मणो भवितुमर्हति -
—ऋग्वेदादि०, पृ० 267

4. बाहू राजन्यः कृतः। —ऋ० 10.90.12.

5. वीर्य्यं वा एतद्राजन्यस्य यद्बाहू।
—शब्रा०, का० 5, अ० 4, ब्रा० 3, क० 15,17

6. यः पुरुष इन्द्रः परमैश्वर्यवान् शत्रूणां क्षयकरणाद्युद्धोत्सुकत्वाच्च प्रजापालनतत्परः क्षत्रियो भवितुमर्हति। —ऋग्वेदादि०, पृ० 267

7. प्राणानां यो आनन्दस्तं प्रजाभ्यः प्रयच्छतः क्षत्रियस्य वीर्यं वर्धते।
—ऋग्वेदादि०, पृ० 267

8. इषवो वै दिद्यवः।
—शब्रा 5.4.4.2.

3. वैश्य—वैश्य वर्ण के व्यक्ति की भी ब्राह्मण और क्षत्रिय की भांति द्विज संज्ञा है। सर्वप्रथम इनका जन्म माता से होता है, तदनन्तर मौञ्जिबन्धन से ये दूसरी बार जन्म ग्रहण करते हैं, इसीलिए इन्हें द्विज कहा जाता है।[1] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनमें से प्रथम तीन वर्णों की समन्त्रक क्रियाएं किए जाने का याज्ञवल्क्य स्मृति में विधान है, जबकि शूद्र के विषय में ऐसा नहीं है।[2] धर्मशास्त्रों में वैश्य के लिये कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि कर्मों को करने का विधान प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में वैश्यों की उत्पत्ति पुरुष के ऊरू से बताई गई है।[3]

4. शूद्र—वैदिकसाहित्य में शूद्रों की उत्पत्ति पुरुष के पैरों से मानी गई है।[4] पैर सम्पूर्ण शरीर का आधार है, जिसके बिना शरीर चल नहीं सकता। इसी प्रकार समाज रूपी शरीर का आधार शूद्र है, जिसके बिना समाज की आधारशिला ही नहीं रह सकती। वेदों में शूद्रवर्ण का प्रमुख कार्य सेवा बताया गया है। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आर्य शब्द के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं, जबकि 'शूद्र' शब्द दस्यु या अनार्य के लिये प्रयुक्त है। यद्यपि स्वामी जी ने शूद्र और दस्यु शब्दों को समानार्थक माना है[5], किंतु दोनों शब्दों के अर्थों में महान् अन्तर है। 'दस्यु' शब्द 'डाकू' के अर्थ में भी प्रयुक्त है, जबकि 'शूद्र' शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ में नहीं होता।

5. आश्रमव्यवस्था—जिस प्रकार वर्ण चार हैं, उसी प्रकार आश्रम भी चार हैं :—

1. ब्रह्मचर्य
2. गृहस्थ

---

1. मातुर्यदग्रे जायन्ते द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात् ।
   ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः ॥

   —याज्ञ० 1.39

2. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।
   निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतःक्रियाः ॥

   —याज्ञ० 1.10

3. ऊरू तदस्य यद्वैश्यः । —ऋ० 10.90.12
4. पद्भ्यांशूद्रो अजायत । —ऋ० 10.90.12
5. ऋग्वेदादि०—स्वामी दयानन्द सरस्वती, पृ० 268.

3. वानप्रस्थ और
4. संन्यास ।

1. ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य आश्रम का सम्बन्ध विद्याध्ययन से है। इस आश्रम का काल पांच या आठ वर्ष से लेकर अड़तालिस वर्ष के मध्य का है। इस आश्रम में अच्छी शिक्षा और सद्विद्या का ग्रहण होता है।[1] ब्रह्मचारी के द्वारा अग्निहोत्रादि कर्मों से, मेखला धारण से, परिश्रम से और अध्ययन तथा उपदेश रूप धर्मानुष्ठान से सभी लोकों को प्रसन्न किया जाता है।[2]

विद्याध्ययन तथा सत्यधर्म का अनुष्ठान ब्रह्मचर्य के अभाव में सम्भव नहीं है। राज्य करने में एक राजा तभी समर्थ होता है, जबकि वह ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययन करके सत्यधर्म के अनुष्ठान में तत्पर होता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आचार्य विद्याध्ययन में समर्थ होता है।[3] ब्रह्मचर्य के द्वारा कोई कन्या युवक पति को प्राप्त करती है। यदि किसी पशु को भी उसकी जवानी पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रखा जाय, तो वह भी अत्यन्त बलवान् हो जाता है तथा अन्य निर्बल पशुओं को जीत लेता है।[4]

ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ही विद्वान् लोग जन्म और मृत्यु से प्रादुर्भूत होने वाले दुःख को पारकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[5] जिस प्रकार सूर्य इन्द्रियों के लिए ईश्वरीय नियम में स्थित होकर प्रकाश का प्रसार करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के द्वारा स्वतः प्रकाशित होकर मनुष्य का आत्मा सभी को प्रकाशमान् कर देता है।

---

1. ब्रह्मचर्य्येण सद्विद्यासुशिक्षादयः शुभगुणाः सम्यग् ग्राह्याः ।
—ऋग्वेदादि०, पृ० 268.

2. ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्त्ति ।
—अथर्व० 11.3.5.4.

3. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥
अथर्व० 11.3.5.17.

4. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥
—अथर्व० 11.3.5.18.

5. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

ब्रह्मचर्य के अभाव में विद्या, बल, बुद्धि और तेज का ह्रास होता है, जिससे मनुष्य अपने उद्देश्य की ओर बढ़ नहीं पाता।

गरुडपुराण में ब्रह्मचारी के धर्म के रूप में भिक्षाचर्या, गुरु की सेवा की इच्छा, स्वाध्याय, सन्ध्याकर्म, अग्निकार्य (यज्ञादि) को स्वीकार किया गया है।[1]

गृहस्थाश्रम :—

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को मूल माना गया है। हलायुधकोष में इसी मत की पुष्टि की गई है।[2] महानिर्वाण तन्त्र में तो कलियुग के लिए केवल दो ही आश्रम स्वीकार किए गए हैं, जो गृहस्थ और भैक्षुक नाम से अभिहित हैं।[3] स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चारों आश्रमों को समान रूप से मान्यता दी है। गृहस्थाश्रम में रहकर अच्छे आचरण और श्रेष्ठ पदार्थों की उन्नति करनी चाहिए।[4] यह आश्रम सन्तति की उत्पत्ति करके उन्हें सुशिक्षित करने के उद्देश्य से अपना महत्त्व रखता है।

गृहस्थाश्रम स्वीकार करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि ब्रह्मचर्याश्रम में वेदादि के अध्ययन के बाद वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे तथा अपने समान किसी लडकी से विवाह करे।[5] गृहस्थाश्रमी स्त्री-पुरुष धर्म की उन्नति करें तथा ग्रामवासियों तथा वनवासियों के हित के लिए करणीय कर्मों को करें। उन्हें इन्द्रियों पर संयम करके ज्ञानवर्धन करना चाहिए तथा पाप करने की बुद्धि का परित्याग करके मन, वाणी और कर्म से लोकोपकार करना चाहिए।

समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए विधिविहित नियमों का सम्यक्

---

1. भिक्षाचर्याथ शुश्रूषा गुरोः स्वाध्याय एव च।
   सन्ध्याकर्माग्निकार्यं च धर्मोऽयं ब्रह्मचारिणः॥ इति गारुडे
   हलायुधकोषः, पृ० 484.
2. चत्वार आश्रमाः प्रोक्ताः सर्वे गार्हस्थ्यमूलकाः। —हलायुध०, पृ० 280
3. ब्रह्मचर्याश्रमो नास्ति वानप्रस्थोऽपि न प्रिये।
   गार्हस्थो भैक्षुकश्चैव आश्रमौ द्वौ कलौ युगे। —महानिर्वाण०, पृ० 397
4. गृहस्थाश्रमेणोत्तमाचरणानां श्रेष्ठानां पदार्थानां चोन्नतिः कार्या।
   —ऋग्वेदादि०, पृ० 268
5. हे गृहस्थाश्रममिच्छन्तो मनुष्याः! स्वयंवरं विवाहं कृत्वा यूयं गृहाणि प्राप्नुत। —ऋग्वेदादि०, पृ० 274

अनुसरण करते हुए गृहस्थ उन्नति को प्राप्त करते हैं। गृहस्थ को चाहिए कि वह किसी के साथ लेन-देन करने में सत्य-व्यवहार का पालन करे।[1] जिन गृहस्थों द्वारा सभी के लिए हितकारी काम किया जाता है, वे सदैव उन्नति की ओर अग्रसर होते हैं। यजुर्वेद में कहा गया है कि परमेश्वर की कृपा से गृहस्थाश्रम में पशु, पृथिवी, विद्या, आनन्द आदि भलीभाँति प्राप्त हों, घरों में खाद्य पदार्थों की कमी न हो और ऐसे पदार्थों की प्राप्ति से गृहस्थ जीवन ऐहिक और पारलौकिक सुख से हरा-भरा रहे।[2] गृहस्थाश्रम में करणीय कर्मों का विधान वैदिक साहित्य के ब्राह्मण भाग में मिलता है।

वानप्रस्थ आश्रम :—

वानप्रस्थ आश्रम में किए जाने वाले कर्मों का विधान आरण्यकग्रन्थों में उपलब्ध है। वानप्रस्थ शब्द 'वनप्रस्थ' शब्द में 'अण्' प्रत्यय के संयोग से बना है। इस आश्रम मे प्रविष्ट हुआ व्यक्ति बिना जोती हुई भूमि से उत्पन्न पके फल आदि का भक्षण करके ईश्वर की आराधना करता है।[3]

छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कन्ध स्वीकार किए गए हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।[4] इन तीनों स्कन्धों में 'अध्ययन' का प्रथम स्थान है। इसे तप कहते हैं। वेदों में कहे गए धर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान करते हुए विद्या का अध्ययन करना इस श्रेणी में आता है।

धर्म का द्वितीय स्कन्ध यज्ञ है। स्वामी दयानन्द जी के अनुसार यह स्कन्ध गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित है।

धर्म का तृतीय स्कन्ध 'दान' शब्द से जाना जाता है। इसमें परमेश्वर के विषय में ठीक-ठीक विचार कर, एकान्त स्थान में रहते हुए वानप्रस्थाश्रमी

---

1. देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
   निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा। —यजु० 3.50
2. उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
   अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
   क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवँ शग्मँ शंयोः शंयोः॥ —यजु० 3.45.43
3. पुत्रमुत्पाद्य वनवासं कृत्वा अकृष्टपच्यफलादि भक्षयित्वा ईश्वराराधनं करोति यः सः। —हलायुध, पृ० 600
4. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। —छान्दोग्य०, प्र० 2, खं० 23

व्यक्ति सत्य और असत्य का निश्चय करता है और सभी विद्याओं के विषय में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करता है।[1]

इस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ ये तीनों आश्रम पुण्यकारी, सुखदायक और सुखयुक्त हैं, जिनमें निवास करते हुए व्यक्ति को हर प्रकार से उन्नति करनी चाहिए।

संन्यास आश्रम :—

'संन्यास' शब्द सम् और नि उपसर्ग पूर्वक अस् धातु में घञ् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न हुआ है। काम्य कर्मों का न्यास अर्थात् त्याग 'संन्यास' शब्द का अर्थ है।[2] संन्यास आश्रम के तीन पक्ष हैं :—

1. ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या ग्रहण करके, गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को सम्पन्न करके, वन में वानप्रस्थ का एकान्त जीवन व्यतीत करके बाद में संन्यास आश्रम में प्रवेश करे।

2. जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण कर ले, चाहे संन्यास गृहस्थ आश्रम के बाद ले या वानप्रस्थ आश्रम के बाद। इस पक्ष के अनुसार वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश से पूर्व ही संन्यास लिया जा सकता है।

3. केवल ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद भी संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। इस पक्ष के अनुसार गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मचर्याश्रम से संन्यास आश्रम में वही व्यक्ति प्रवेश कर सकता है, जो पूर्ण विद्वान् हो और जिसके मन में सभी प्राणियों का शीघ्र ही कल्याण करने की इच्छा हो।[3]

संन्यास आश्रम ग्रहण करने वाला मोक्ष को प्राप्त करता है।[4]

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य, धर्मानुष्ठान, श्रद्धायज्ञ और ज्ञान से परमेश्वर को जानकर, विचारशील मुनि हो जाते हैं,

---

1. तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमवसादयन् हृदये विचारयन् एकान्तदेशं प्राप्य सत्यासत्ये निश्चिनुयात्, स वानप्रस्थाश्रमी। —ऋग्वेदादि०, पृ० 276
2. काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। —गी० अध्याय 18.2
3. ऋग्वेदादि०, पृ० 277
4. ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। — छान्दोग्य०, प्र० 2, ख० 23.

वे संन्यासियों के द्वारा प्राप्तव्य ब्रह्मलोक की प्राप्ति की भावना से संन्यास ग्रहण करते है।[1]

विशुद्धसत्त्व व्यक्ति जिन-2 लोकों और कामनाओं की इच्छा करता है, वे उसे अवश्य प्राप्त होते हैं, इसलिए ऐश्वर्य की कामना वाले व्यक्ति को आत्मज्ञानी संन्यासी की सेवा अवश्य करनी चाहिए।[2]

संन्यास ग्रहण करते समय प्राजापत्येष्टि का अनुष्ठान किया जाता है और उसमें शिखासूत्रादि का हवन कर दिया जाता है। इस प्रकार मननशील होते हुए व्यक्ति संन्यास ग्रहण करता है।[3] संन्यास ग्रहण करने मे राग-द्वेषादि से रहित, पूर्ण विद्या से युक्त तथा सभी प्राणियों के प्रति उपकार की भावना से पूर्ण व्यक्तियों का अधिकार होता है। अल्पविद्या से युक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण के लिए अधिकारी नहीं हैं।[4]

स्वामी दयानन्द जी ने अद्वितीय, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना और सत्यधर्म के अनुष्ठान को सभी आश्रमों के लिए समान रूप से स्वीकार किया है, किन्तु संन्यासियों के द्वारा अनुष्ठान किए जाने योग्य पञ्चमहायज्ञों का स्वरूप कुछ भिन्न माना है। सत्य का उपदेश संन्यासियों का ब्रह्मयज्ञ है। ईश्वरोपासना उनका देवयज्ञ है। विज्ञानियों की प्रतिष्ठा करना उनका पितृयज्ञ है। मूर्खों को ज्ञान देना, प्राणियों के ऊपर दया तथा उन्हें कष्ट न देना भूतयज्ञ है। सभी लोगों के उपकार की भावना से भ्रमण करना और अभिमान से रहित होना, सत्य के उपदेश से सभी मनुष्यों का सत्कार करना संन्यासियों का अतिथियज्ञ है।

———

1. ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतन्यमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्त: प्रव्रजन्ति।
—शब्रा०, का० 14, अ०7, ब्रा०2, क०25

2. यं यं लोकं मनसा संविभाति,
विशुद्धसत्त्व: कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्,
तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम: ॥
—मुण्डक०, मु० 3, ख० 1 म० 10

3. ऋग्वेदादि०, पृ० 279

4. नाल्पविद्यानामिति। —ऋग्वेदादि०, पृ० 279

८

अध्याय

नियोग

यद्यपि आधुनिक भारतीय शिष्ट समाज में नियोग प्रथा को अच्छा नहीं माना जाता, किन्तु वैदिक साहित्य में इस प्राचीन प्रथा का मूल अवश्य मिलता है। विधवा स्त्री को नियोग करने की शास्त्रीय आज्ञा है तथा पुरुष का भी विधवा के साथ नियोग करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। नियोग के लिए विधवा स्त्री के लिए यह आवश्यक है, कि वह सन्तान की प्राप्ति के लिए किसी ऐसे व्यक्ति के साथ नियोग करे, जिसकी स्त्री मर चुकी हो। वह किसी अविवाहित व्यक्ति के साथ नियोग न करे।[1] स्वामी दयानन्द जी के मतानुसार नियोग केवल सन्तान की आवश्यकता या इच्छा होने पर किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

स्वामी दयानन्द जी का यह स्पष्ट अभिमत है कि पुरुष और स्त्री के विवाह के विषय में एकवचन का प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है, जिससे यह निश्चित है कि पुरुष या स्त्री का जीवनसाथी एक ही होना चाहिए,

1. विधवा स्त्री मृतस्त्रीक पुरुषेण सहैव सन्तानार्थं नियोगं कुर्यान्न कुमारेण सह। —ऋग्वेदादि०, पृ० 241

एक से अधिक नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों ही कुलों में एक ही विवाह मान्य है। पुनर्विवाह तो शूद्रों में किया जा सकता है, क्योंकि वे विद्या और व्यवहार से रहित हैं।[1]

ऋग्वेद में नियोग के लिए उद्यत स्त्री और पुरुष के द्वारा परस्पर किए जाने वाले व्यवहार के विषय में कहा गया है, कि जिस प्रकार विवाहिता स्त्री सन्तान की कामना से अपने पति के साथ सहवास करता है, उसी प्रकार विधवा स्त्री और पत्नी रहित पुरुष पुत्रोत्पत्ति की कामना से परस्पर नियोग करके विवाहित स्त्री और पुरुष की भांति व्यवहार करें।[2]

अथर्ववेद में भी नियोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति की कामना से स्त्री और पुरुष के मध्य पति-पत्नी के सम्बन्ध की स्थापना की गई है।[3] स्वामी दयानन्द जी ने अथर्ववेद में प्रयुक्त नारी शब्द को विधवा स्त्री का वाचक माना है, जो पुत्र कामना से मृतस्त्रीक पुरुष के साथ नियोग के माध्यम से सन्तति चाहती है।[4] वास्तव में नारी शब्द एक व्यापक शब्द है, जिसके अन्तर्गत कोई भी स्त्री आ सकती है, चाहे वह विधवा हो या सधवा। मन्त्र में प्रयुक्त पुरुष' शब्द भी केवल मृतस्त्रीक पुरुष का वाचक ही नहीं, अपितु अन्य पुरुषों का भी वाचक है।

स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद के एक अन्य प्रमाण के आधार पर विधवा स्त्री को अन्य पुरुष के साथ नियोग के माध्यम से सन्तानोत्पत्ति करने का विधान किया है।[5] इस सिद्धान्त के आधारभूत मन्त्र का अर्थ करते हुए स्वामी जी ने कहा है कि हे विधवा स्त्री ! तू अपने मृत विवाहित पति को छोड़ कर इस जीव लोक में दूसरे पुरुष के साथ नियोग द्वारा सन्तानों को प्राप्त हो।[6]

---

1. पुनर्विवाहस्तु खलु क्षुद्रवर्णे एव विधीयते, तस्य विद्याव्यवहाररहितत्वात्।
—ऋग्वेदादि०, पृ० 242
2. मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। —ऋ०, अ०7, अ०8, व०18, मन्त्र 2
3. इयंनारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि।
—अथर्व०, कां० 18, अनु० 3, सू० 3, म० 1
4. (इयं नारी) इयं विधवानारी। —ऋग्वेदादि०, पृ० 242
5. उदीर्ष्व नार्य्यभि जीवलोक गतासुमेतमुपशेष एहि।
—ऋ०,म०10, सू०18, म०8
6. (उदीर्ष्वनारि) हे विधवे नारि ! —ऋग्वेदादि०, पृ० 242

वास्तव में यहाँ पर भी नारी शब्द का अर्थ विधवा स्त्री नहीं है, अपितु सामान्य स्त्री है, जो पति के मर जाने पर पुनर्विवाह के लिए अधिकृत है, ऐसा ऋग्वेद का आशय है, न कि नियोग द्वारा परपुरुष के साथ सहवास करके पुत्रोत्पत्ति के लिए अधिकारिणी है। एक विधवा स्त्री द्वारा बिना पति के केवल नियोग द्वारा अन्य पुरुष के साथ सहवास करके पुत्रोत्पत्ति करना कहाँ तक उपयुक्त है, इस विषय पर गम्भीर विचारणा अपेक्षित है।

६

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञ शीर्षक के अन्तर्गत पांच महायज्ञ आते है, जो प्रत्येक मनुष्य द्वारा अनिवार्य रूप से करणीय हैं। वे पञ्चमहायज्ञ निम्न हैं :

1. ब्रह्मयज्ञ 2. देवयज्ञ 3. पितृयज्ञ
4. बलिवैश्वदेव और 5. अतिथियज्ञ।

ब्रह्मयज्ञ—धर्मशास्त्रों में वेदाध्ययन को ब्रह्मयज्ञ कहा गया है।[1] वास्तव में वेद आदि शास्त्रों का ठीक प्रकार से अध्ययन करना, अध्यापन करना और सन्ध्योपासन करना ब्रह्मयज्ञ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी अङ्गों सहित वेदों के अध्ययनाध्यापनादि को ब्रह्मयज्ञ कहा है।[2]

देवयज्ञ—पञ्च महायज्ञों के अन्तर्गत देवयज्ञ को द्वितीय स्थान प्राप्त है। देवयज्ञ का सम्बन्ध देवताओं के लिए किए जाने वाले यज्ञ से है। जहां ब्रह्मयज्ञ का सम्बन्ध ब्रह्मचर्य आश्रम से है, वहीं देवयज्ञ मूलतया गृहस्थ आश्रम

1. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।। —मनु० 3.70
2. साङ्गानां वेदादिशास्त्राणां सम्यगध्ययनमध्यापनं सन्ध्योपासनं च सर्वैः कर्त्तव्यम्। —ऋग्वेदादि० पृ० 281

से सम्बन्धित है। मनुस्मृति में देवयज्ञ को होम शब्द से भी अभिहित किया गया है।[1] वास्तव में देवयज्ञ के अन्तर्गत केवल होम ही नही आते, अपितु याग भी आते हैं। अग्निहोत्र होम जिस प्रकार गृहस्थों के लिए नित्य होम है, उसी प्रकार दर्शपूर्णमास आदि भी नित्य कर्म है। यह बात अवश्य है कि दर्श पूर्णमासेष्टि का अनुष्ठान काम्य कर्म के रूप में भी किया जा सकता है।

प्रत्येक गृहस्थ अनिवार्य रूप से पांच प्रकार के पापों से बंध जाया करता है। वे पांच पाप हैं—[2]

1. चूल्हा से उत्पन्न
2. चक्की से उत्पन्न
3. बुहारी ,,
4. उलूखल-मुसल से उत्पन्न
5. जल के घड़े के प्रयोग से उत्पन्न पाप।

उपर्युक्त चूल्हा, चक्की, बुहारी, उलूखल और जलघट का प्रयोग करता हुआ गृहस्थ जाने अनजाने पाप कर बैठता है, जिनसे छुटकारा पाने के लिए उसे पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करना पड़ता है। जो व्यक्ति इन पांच महायज्ञों का अनुष्ठान अपनी शक्तिभर करता है तथा उनके अनुष्ठान से विमुख नही होता, वह घर में निवास करता हुआ भी हिंसा के दोषों से लिप्त नहीं होता।[3]

मनुस्मृति में देवयज्ञ की अपार महिमा का प्रतिपादन किया गया है। जो व्यक्ति देव होत्रकर्म में युक्त रहता है, वह चराचर का पोषण करता है।[4]

2. पितृयज्ञ—स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पितृयज्ञ के दो भेद किए हैं—

1. तर्पण और 2. श्राद्ध।

---

1. होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।
मनु० 3.70

2. पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ॥
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।
—मनु० 3.68

3. पञ्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ।। —मनु० 3.71

4. दैवे कर्मणि युक्तो हि बिभर्तीदं चराचरम्।। —मनु० 3.75

1. तर्पण—जिस कर्म से विद्वानों, ऋषियों और पितरों को तृप्त किया जाता है, वह यज्ञ तर्पण नाम से जाना जाता है।[1] यह तर्पण क्रिया जीवित व्यक्तियों के पक्ष में लागू होती है, मृत पुरुषों में नहीं। तर्पण कर्म प्रत्यक्ष के लिए हो सकता है। मृत व्यक्ति अप्रत्यक्ष होने के कारण तर्पण का पात्र नही हो सकता, क्योंकि मृत व्यक्ति की सेवा नहीं की जा सकती। तर्पण आदि कर्मों से जिनका सम्मान किया जा सकता है, वे निम्न हैं—

1. देव 2. ऋषि और 3. पितर।

2, श्राद्ध:—जिस कर्म के द्वारा देव, ऋषि और पितरों की श्रद्धापूर्वक सेवा की जाय, वह कर्म श्राद्ध नाम से जाना जाता है। यह कर्म भी प्रत्यक्ष के ऊपर लागू होता है, अप्रत्यक्ष के ऊपर नहीं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि श्राद्ध मृतकों के लिए किए जाने पर असंगति को प्राप्त होता है।

पितृयज्ञ का महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि माता-पिता को अन्न न देता हुआ व्यक्ति मृतक के तुल्य होता है, जैसाकि मनुस्मृति में प्रतिपादन किया गया है।[2]

बलिवैश्वदेव:—

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत बलिवैश्वदेव को भी एक महत्त्वपूर्णयज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित किया है। बलिवैश्वदेव कर्म उसी अन्न से करना चाहिए, जो पका हुआ तो हो, किन्तु उसमें नमक नहीं पड़ा हो।[3]

बलिवैश्वदेव कर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान गार्हपत्य अग्नि में पके हुए अन्न से किया जाना चाहिए। यह कर्म प्रतिदिन करना चाहिए।[4] इस कर्म के विषय में अथर्ववेद का प्रमाण उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में यह कहा गया है कि जिस प्रकार खाने योग्य पदार्थ प्रभूत मात्रा में अश्व के समक्ष रखा जाता है,

---

1. येन कर्मणा विदुषो देवान्, ऋषीन्, पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत्तर्पणम्। —ऋग्वेदादि०, पृ० 287
2. देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥ —मनु० 3.72
3. यदन्नं पक्वमक्षारलवणं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्यम्।
ऋग्वेदादि०, पृ० 306
4. वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्। —मनु० 3.84

उसी प्रकार प्रतिदिन होम करते हुए और अतिथियों को बलि अर्थात् भोजन प्रदान करते हुए अभीष्ट चक्रवर्ति राज्य की लक्ष्मी से आनन्द को प्राप्त करें।[1]

बलिवैश्वदेव कर्म में बलिदान का कार्य तभी करना चाहिए, जबकि 'ओमग्नये स्वाहा' से लेकर ॐ स्विष्टकृते स्वाहा पर्यन्त पढ़े गए दश मन्त्र से होम कर लियाजाय।

बलिदान से सम्बन्धित मन्त्र सोलह हैं[2]। ये मन्त्र स्वामी दयानन्द जी के अनुसार परमेश्वरदेवताक हैं।

बाद में देय वस्तु के छः भाग कर लिए जाने चाहिए। वे भाग भूमि में डाल दिए जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त कुत्तों, कंगालों, कोढ़ियों, काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिए भी छः भाग पृथक्-२ बांट के दे देना चाहिए। सभी प्राणियों के लिए भाग अलग-२ बांट कर देना चाहिए और उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनी चाहिए। बलिवैश्वदेव कर्म की यह विधि मनुस्मृति और वेद दोनों से ही प्रमाणित है।

बलिवैश्वदेवकर्म को भूतयज्ञ नाम से भी जाना जाता है, जैसाकि मनुस्मृति में 'बलिर्भौतो' कहकर अभिहित किया गया है।[3]

---

1. अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्नेः।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिशाम॥
—अथर्व० 19.44.7

2. ॐ सानुगायेन्द्राय नमः ॥१॥ ॐ सानुगाय यमाय नमः ॥२॥
ॐ सानुगाय वरुणाय नमः ॥३॥ ॐ सानुगाय सोमाय नमः ॥४॥
ॐ मरुद्भ्यो नमः ॥५॥ ओमद्भ्यो नमः ॥६॥
ॐ वनस्पतिभ्यो नमः ॥७॥ ॐ श्रियै नमः ॥८॥
ॐ भद्रकाल्यै नमः ॥९॥ ॐ ब्रह्मपतये नमः ॥१०॥
ॐ वास्तुपतये नमः ॥११॥ ॐ विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥१२॥
ॐ दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥१३॥ ॐ नक्तचारिभ्यो नमः ॥१४॥
ॐ सर्वात्मभूतये नमः ॥१५॥ ॐ पितृभ्यः स्वधायिभ्यो नमः ॥१६॥
—उद्धृत ऋग्वेदादि०, पृ० 308

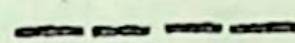
3. होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ — मनु० 3.70

अतिथियज्ञ—अतिथियज्ञ को नृयज्ञ भी कहा जाता है।[1] अतिथियज्ञ का अर्थ अतिथि का पूजन है। अतिथि वह है, जिसके आने जाने की कोई तिथि या दिन निश्चित न हो, किन्तु वह स्वेच्छा से अकस्मात् आए और चला जाए।[2] जिस घर में अतिथियों का सत्कार होता है, वहां सभी प्रकार के सुख होते हैं। अतिथि कौन है ? इस विषय में स्वामी दयानन्द जी ने यह कहा है कि जो पूर्णविद्या से युक्त है, परोपकारी हैं, जितेन्द्रिय हैं, धार्मिक हैं, सत्यवादी है, छल-कपट आदि दोषों से रहित है, नित्य भ्रमण करने वाले हैं, ऐसे मनुष्य अतिथि हैं।[3]

जब कोई अतिथि के रूप में किसी गृहस्थ के यहां आए, तो बड़े प्रेम से उठकर अतिथि का सत्कार करना चाहिए। अतिथि को उत्तम आसन देकर बैठाना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार अतिथि सेवा करके उसे जल आदि प्रदान करना चाहिए और उससे उपदेश आदि सुनने चाहिए। अतिथि के लिए प्रिय पदार्थों को समर्पित किया जाना चाहिए। अतिथि और आतिथेय में परस्पर सौहार्द्र होना चाहिए। दोनों में परस्पर प्रीति होनी चाहिए और सत्सङ्ग तथा विद्यावृद्धि के माध्यम से आनन्द प्राप्त करना चाहिए। अथर्ववेद में अतिथियज्ञ से सम्बन्धित विचारधारा के दर्शन होते हैं।[4] स्वामी दयानन्द जी के अनुसार वही अतिथि सेवा किए जाने के योग्य है, जो उत्तम गुणों से युक्त है।[5] वाचस्पत्यम् में स्मृतियों के सन्दर्भ में अतिथि उस व्यक्ति को कहा गया है, जो वैश्वदेव कर्म के अन्त में विप्र रूप में प्राप्त हो, चाहे वह प्रिय हो या द्वेष का पात्र हो, मूर्ख हो चाहे विद्वान् हो।[6] नृयज्ञ रूप

1. नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्। —मनु० 3.70
2. अतिथिरर्थाद्यस्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, किन्तु स्वेच्छयाकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च। —ऋग्वेदादि०, पृ० 310
3. ऋग्वेदादि०, पृ० 310
4. स्वयमेनमभ्युपेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथाते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति। अथर्व 15.11.1-2
5. महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिः। —ऋग्वेदादि०, पृ० 310
6. प्रियो वा यदि वा द्वेष्यो मूर्खः पण्डित एव वा/संप्राप्तो वैश्वदेवान्ते विप्रः सोऽतिथिरुच्यतेइति स्मृत्या। —वाच०, पृ० 100

अतिथि पूजन पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत आने वाला गृहस्थ के द्वारा करणीय कर्म है, जिसमें अतिथियों का सत्कार किया जाता है।[1] जो व्यक्ति देवता, अतिथि, भृत्य, माता-पिता और आत्मा इन पांचों को अन्न० देने में असमर्थ है, वह जीवित रहते हुए भी मृतपुरुष के समान माना गया है।[2]



1. गृहस्थकर्त्तव्यपञ्चयज्ञान्तगते नृयज्ञरूपेऽतिथिपूजने अतिथिसत्कारादयोऽप्यत्र। —वाच०, पृ० 100
2. देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति॥ —मनु 3.72

उपसंहार

महर्षि दयानन्द सरस्वती का मानव समाज के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा है कि उन्होंने अन्धविश्वास में फंसे लोगों को युक्ति के माध्यम से धार्मिक प्रथाओं और रीतिरिवाजों का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया। भाग्य का आश्रय लेकर अकर्मण्य बनना उन्हें अभीष्ट न था। उन्होंने श्रुति से भिन्न ग्रन्थों को आदर्श मानने वाले धर्मानुयायियों के लिए सर्वोत्तम ईश्वरीय एवं सर्वप्राचीन वैदिक ग्रन्थों की उत्कृष्टता प्रमाणित करते हुए वेदों की अनुसरणीयता का उपदेश दिया। उन्होने भिन्न-2 देवी देवताओं के पीछे दौड़ने वाले एवं किसी एक पर विश्वास न करने वाले लोगों के लिए वेदप्रतिपाद्य एकेश्वरवाद का डिण्डिमनाद किया। सामाजिक कुरीतियो को निर्मूल करने एवं युवकों का नैतिक स्तर ऊंचा उठाने के लिए उन्होंने वेदों में प्रतिपादित धर्म का प्रसार किया। इस उद्देश्य से उन्होंने संवत् 1934 मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष की षष्ठी तिथि को ऋग्वेदभाष्य का आरम्भ किया और बाद में पं० गोपालराव हरि देशमुख के प्रस्ताव पर यजुर्वेद का भाष्य करने के लिए भी स्वामी जी तैयार हो गए। 1955 ई० में प्रकाशित, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। ऋग्वेदभाष्य करने के साथ-२ स्वामी जी के द्वारा 1934 वि० सं० की पौषशुक्लपक्ष त्रयोदशी को वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता का भाष्य भी आरम्भ कर दिया गया। यद्यपि यजुर्वेदभाष्य तो स्वामी जी ने पूर्ण कर लिया, किन्तु ऋग्वेदभाष्य अधूरा ही रह गया। ऋग्वेद का भाष्य मण्डल 7, सूक्त 62, मन्त्र 2 तक ही सम्पन्न हो सका। असमय निधन होने के कारण चारों वेदों पर भाष्य करने की उनकी योजना क्रियान्वित न हो सकी, जैसा कि 1940 संवत्, भाद्रपद कृष्णपक्ष, पञ्चमी को मुंशी समर्थदान जी के नाम लिखे गए स्वामी जी के पत्र से यह स्पष्ट होता है कि वह एक वर्ष के अन्दर ऋग्वेद भाष्य पूर्ण करके एक या डेढ़ वर्ष में सामवेद और अथर्ववेद का भाष्य करना चाहते थे।[1] यह दुर्भाग्य की बात है, कि अवशिष्टवेदभाष्य से लोगो को वञ्चित होना पड़ा। उन्होंने वैदिक धर्म के आलोक से विश्व को प्रकाशित कर दिया और धर्मविमुख लोगों के लिए भी वैदिक धर्म में आकर्षण भर

1. वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ

—डॉ० रामनाथ वेदालंकार, पृ० 93

दिया। यदि स्वामी दयानन्द जैसे सच्चरित्र योगी का अवतरण इस वसुधा पर न हुआ होता, तो विशेष सम्भावना थी; कि लोग वेदों का नाम भी न जान पाते और वेदों में प्रतिपादित कल्याणकारी धर्म से अनभिज्ञ रहकर कुरीतियों के दलदल मे ऐसे फंस जाते, जहां से निकलना सम्भव कम था।

अध्यात्मपरक व्याख्या पर बल देने वाले वेदभाष्यकारों में स्वामी दयानन्द जी का नाम अग्रगण्य है। यद्यपि स्वामी जी से काफी पहले से ही आध्यात्मिक वेदभाष्यों की परम्परा थी, जिसमें सायण से पूर्ववर्ती आत्मानन्द का नाम आता है, किन्तु आत्मानन्द का भाष्य केवल ऋग्वेद के अस्यवामीय-सूक्त पर ही मिलता है, जिसमें उन्होंने अपने भाष्य की अध्यात्मपरकता को स्वयं ही स्वीकार किया है।[1] स्वामी दयानन्द का ऋग्वेदभाष्य 7.62.2 तक है, जो ऋग्वेद के पर्याप्त भाग पर है। ऋग्वेद में इन्द्र, मित्र, वरुण आदि एक ब्रह्म के ही नाम हैं, जिसकी पुष्टि ऋग्वेद के मन्त्र से होती है[2], अतः ऋग्वेद के देवताओं से सम्बन्धित मन्त्र भी आध्यात्मिक पद्धति से व्याख्यात हो जाते हैं।

आर्यसमाज की स्थापना के माध्यम से स्वामी जी ने सामाजिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। वेदाध्ययन के अधिकार से वञ्चित स्त्रियों और शूद्रों के लिए वैदिक प्रमाण का आश्रय लेकर वेदों में प्रवेश का द्वार अनावृत कर दिया।

पाखण्डियों के पाखण्ड का खण्डन करके उन्हें वैदिक आर्यधर्म की ओर आहूत किया तथा भ्रमण करते हुए यत्र तत्र शास्त्रार्थ भी किया। कर्मकाण्ड की उन्हीं विधियों को उन्होंने स्वीकार किया, जो युक्तिसंगत हैं। वेदों की प्रामाणिकता को उन्होंने सर्वोच्च माना, जो शास्त्रसंगत भी है। स्मृतियों में जो वचन वेदविरुद्ध हैं, वे अग्राह्य हैं, किन्तु जो वचन वेदसम्मत हैं, वे ग्राह्य हैं। वे प्रत्येक धार्मिक विधि के अनुवर्त्तन के लिए वैदिक आधार को आवश्यक समझते थे। उनके योगदान के महत्त्व के मूल्यांकन के लिए उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का अनुशीलन अपेक्षित है। यदि महर्षि दयानन्द का वास्तविक अनुगमन करना है, तो उन ग्रन्थों (वेदों) का अध्ययन और मनन करना होगा, जिनके सर्वातिशायी महत्त्व का प्रतिपादन स्वामी दयानन्द जी ने किया।

———

1. इदं भाष्यम् अध्यात्मविषयमिति —आत्मानन्द (ऋ० 1.164)
2. ऋ० 1.164.46

सहायकग्रन्थसूची

1. अथर्ववेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, औन्धनगर, 1945 ई०
2. अष्टाध्यायीभाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर 1927 ई०
3. ऋग्वेदभाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1977 ई०
4. ऋग्वेद संहिता, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जि० सूरत, 1957 ई०
5. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—स्वामी दयानन्द सरस्वती, लाजरस प्रेस बनारस. 1934, 1935 वि०स०,
6. कठोपनिषद्, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
7. छान्दोग्य उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर
8. तत्त्व कौमुदीप्रभा—डा० आद्याप्रसाद मिश्र, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद
9. तैत्तिरीय आरण्यक, वैदिक संशोधन मण्डल पूना
10. तैत्तिरीय उपनिषद्—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1921
11. दयानन्द दिग्विजय—अखिलानन्द शर्मा, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, 1910ई०
12. दयानन्ददिग्विजय (पूर्वार्द्ध)—मेधाव्रताचार्य, 1994 वि० सं०
13. दयानन्ददिग्विजय (उत्तरार्द्ध)— ,, 1947 ई०
14. निरुक्त, दुर्गवृत्तिसहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, 1921 ई०
15. पञ्चमहायज्ञविधि:—स्वा० दयानन्द सरस्वती, लाजरस प्रेस, बम्बई 1877 ई०
16. ब्रह्मसूत्र, चोखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1982
17. भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर
18. भागवतखण्डन—स्वामी दयानन्द सरस्वती, ज्वाला प्रेस, आगरा 1863 ई०
19. मनुस्मृति, सं०—ई० डब्ल्यू० हाप्किन्स, लन्दन 1884 ई०
20. मनुस्मृति, सं०—जे० जोली, लन्दन, 1887 ई०
21. महाभाष्य—पतञ्जलि, दिल्ली, 1964 ई०
22. मुण्डकोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर
23. यजुर्वेदभाष्य—स्वामी दयानन्द सरस्वती, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1878-1889 ई०

24. यजुर्वेदसंहिता, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, सं० 2007
25. योगसूत्र, गीता प्रेस, गोरखपुर
26. याज्ञवल्क्यस्मृति, बम्बई, सं० 1980
27. वेदाङ्गप्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती, (14 भाग), वैदिक यन्त्रालय काशी, 1879 ई० से 1883 ई० तक
28. शतपथ ब्राह्मण, सं०—आलब्रेख्तवेबर, लाइप्त्सिक, 1924 ई०
29. हलायुधकोष, सूचनासमिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

हिन्दी के ग्रन्थ

30. अद्वैतमतखण्डन—स्वामी दयानन्द सरस्वती, लाइट प्रेस, बनारस 1870 ई०
31. आर्य समाज का इतिहास—पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली 2013 वि० स०
32. आर्याभिविनय—स्वामी दयानन्द सरस्वती, आर्य मण्डल प्रेस, बम्बई, 1876 ई०
33. ऋषिदयानन्द की जन्म तिथि—इन्द्रदेव, अखिल भारतीय आर्य सभा, पीलीभीत, 1965 ई०
34. चतुर्वेदविषयसूची, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1971 ई०
35. दयानन्दजन्मस्थाननिर्णय—विजय शंकर, बम्बई, 1930 ई०
36. नवजागरण के पुरोधा: दयानन्द सरस्वती—डॉ० भवानीलाल भारतीय, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर, 2040 वि०सं०
37. महर्षि दयानन्द का जीवन चरित—पं० घासीराम, (दो भाग) आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर, 1933 ई०
38. महर्षि दयानन्द की आत्मकथा—डॉ० भवानीलाल भारतीय, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर 2040 वि० सं०
39. महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह, दयानन्द कोमेमोरेशन वाल्यूम
40. महर्षि दयानन्द सरस्वती का वंश परिचय—श्री कृष्ण शर्मा, राजकोट 2020 वि० स०
41. वेदभाष्यकारों की वेदार्थप्रक्रियाएं—डॉ० रामनाथ वेदालंकार, होशियारपुर, 1980 ई०

42. वेदविरुद्धमतखण्डन—स्वामी दयानन्द सरस्वती, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1875 ई०
43. वेदान्तिध्वान्तनिवारण—स्वामी दयानन्द सरस्वती, ओरिएण्टल प्रेस, बम्बई, 1877 ई०
44. सत्यार्थप्रकाश—स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्टारप्रेस, बनारस 1875

बंगला ग्रन्थ

45 दयानन्दचरित—देवेंद्रनाथ मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1896 ई०

अंग्रेजी ग्रन्थ

46. Autobiography of Dayanand Saraswati—K.C. Yadav, Delhi 1976-78
47. Illustrated weekly, 29 Oct.. 1972
48. Biographical Essays—F. Maxmuller
49. Life of Swami Dayanand Saraswati—Harvilas Sarda, Ist Edition, 1946 A.D.
50. Sanskrit English Dictionary—Monier Williams, Varanasi.

— —

डा० वेदप्रकाश उपाध्याय के निर्देशन में शोधकार्य

पी-एच. डी. उपाधि के लिए—

	शोधकर्त्ता	विषय
1.	राजपालजैन	—मनुस्मृति में राजधर्म, 1986
2.	सतीशचन्द्र शर्मा	—मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति: एक आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन, 1989
3.	आशुतोष आंगिरस	—A critical and comparative study of Pratyabhijna and Pratibha in Trika system of Indian Philosophy: 1989
4.	आशालता तापस	—कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा के विशेष सन्दर्भ में अग्निष्टोमसोमसंस्था का आलोचनात्मक अध्ययन, 1991
5.	हरिओम् वसिष्ठ	—हेमाद्रिकृत चतुर्वर्गचिन्तामणि और नागेशभट्टकृत प्रायश्चित्तेन्दुशेखर के विशेष सन्दर्भ में प्रायश्चित्तों का आलोचनात्मक अध्ययन, 1991
6.	शेखरदत्त शर्मा	—ताण्ड्यब्राह्मणीय यज्ञों का समाजशास्त्र की दृष्टि से अध्ययन, 1989
7.	रवीन्द्रनाथ	—A critical and comparative study of Vyavaharamayukha of Nilakantha Bhatta
8.	सुनीतारानी	—A critical study of Vivadapadas with special reference to Vivadacintamani of Vacaspati Mishra.
9.	मीनारानी	—A critical study of Jimuta Vahana's Dayabhaga in the context of Dayabhaga-prabodhini of Shrikrisna Tarkalankara.
10.	ओमप्रकाश शर्मा	—Savita in Vedic Literature,
11.	तुलसीराम	—A study of the contributions of Saunaka to the Vedic Literature.

12. जगदीश कुमार शर्मा— A critical and comparative study of Vijnanabhairava and Tantrasara.

13. देवराज गुप्त — A critical and comparative study of Dattakamimansa of Nanda Pandita and Dattaka candrika of Raghumani Vidyabhusana.

14. नीलमरानी —महाकवि वासुदेवकृत युधिष्ठिरविजय और रामसुब्रह्मण्यारकृत धनंजय विजय महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन

15. विभा —A critical study of Mitaksara of Haradatta on the Gautama Dharmasutra.

16. करुणलेखा —Critical and comparative study of Relationship of Samkhya, yoga and Vedanta.

17. पुष्पलता मारज — वेदान्त की विचारधारा के सन्दर्भ में गुरुनानकदेवदर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन।

18. पिनाकपाणि शर्मा —गोपथब्राह्मणगत निर्वचनों का अनुशीलन (कार्यरत)

19. नरेश कुमार बत्रा —वार्त्तिकपरिप्रेक्ष्ये कात्यायनस्य समीक्षात्मकमध्ययनम् (कार्यरत)

20. निधीन्द्रप्रसाद शर्मा —रामानन्द सम्प्रदाय और सन्तगुरु रविदास (कार्यरत)

21. आशा शर्मा —सन्तरविदास और सन्त दादूदयाल का दार्शनिक दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन (कार्यरत)

22. निर्मल शर्मा —चरणव्यूह के महिदास भाष्य के सन्दर्भ में वैदिक शाखाओं का आलोचनात्मक अध्ययन (कार्यरत)

एम् फिल्. उपाधि के लिए—

1. अनुपमा महाजन : श्वेताश्वतर उपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन, 1989-90
2. अर्चना कण्डा : धर्मशास्त्रीय दृष्टि से वशिष्ठ धर्मसूत्र का अध्ययन, 1986
3. आशुतोष आंगिरस : काश्मीर शैवदर्शन में प्रतिमा का सिद्धान्त: एक अध्ययन, 1984-85
4. कमलेश : सांख्यप्रवचनभाष्य में सृष्टि प्रक्रिया: एक अध्ययन, 1989-90
5. कुन्दनलाल शर्मा : अध्यात्मरामायणे रामगीतायाः दार्शनिकमध्ययनम्, 1986-87
6. नीटू शर्मा : याज्ञवल्क्य स्मृति में आचारव्यवस्था, 1988-89
7. नीरा चड्ढा : मनु के विशेष सन्दर्भ में धर्म का अध्ययन, 1986
8. नीलमरानी : युधिष्ठिरविजय का आलोचनात्मक अध्ययन, 1984
9. मधु शर्मा : चरणव्यूह के विशेष सन्दर्भ में वैदिक शाखाओं का आलोचनात्मक अध्ययन, 1986
10. रञ्जू : वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के सन्दर्भ में रीतियों का अध्ययन, 1989-90
11. रीटा : गोपथ ब्राह्मण के स्रोत, 1983
12. रेखा गुप्ता : मीमांसान्यायप्रकाश के सन्दर्भ में श्रुति आदि प्रमाणों का अध्ययन, 1988-89
13. रेणु कुमारी : स्मृति साहित्य में राजकर्त्तव्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, 1986-87
14. विनोद कुमारी : दिङ्नागकृत कुन्दमाला का दार्शनिक अध्ययन, 1984

15. शिवकुमार सोनिका : शाङ्करभाष्य के सन्दर्भ में वज्रसूच्युपनिषद् का दार्शनिक अनुशीलन, 1988-89

16. संगीता रानी : तलवकारोपनिषद् का सामवेदीय दृष्टि से विवेचनात्मक अध्ययन, 1986

17. सीमा : राघवपाण्डवीय महाकाव्य का अलंकारों की दृष्टि से विवेचनात्मक अध्ययन, 1988-89

18. सुनीता रानी : ऐतरेय उपनिषद् का दार्शनिक अध्ययन, 1985-86

19. हरिओम् वाशिष्ठ : नाथ अघोरानन्दकृत योगकर्णिका का आलोचनात्मक अध्ययन, 1984-85

श्रद्धाञ्जलि



स्वर्गीय श्री राम स्वरूप गुप्ता जी

दिवंगत महापुरुष श्री रामस्वरूप जी गुप्ता की प्रेरणा से 'वेदमीमांसा और दयानन्द सरस्वती' ग्रन्थ पाठकों के समक्ष पहुंचाने में मैं समर्थ हुआ। श्री गुप्ता जी का जन्म 17 फरवरी 1929 को और स्वर्गवास 29 जनवरी 1992 को हुआ। आप 1963 ई० से चमत्कार प्रिंटिंग प्रेस अम्बाला कैंट के सह-संस्थापक-प्रबन्धक रहे तथा 1972 ई० से स्वतन्त्र रूप से 'मधु प्रिंटर्स' प्रैस को अपने जीवनकाल में चरमशिखर तक पहुंचाया। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

—लेखक

